गोस्वामि श्री गिरिधरजी महाराज विरचित

शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

विद्याविलासि पूज्यपाद गो.ति.

श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी)

महाराज श्री की आज्ञा से प्रकाशित

जगद् गुरु
श्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस
आचार्यवर्य्य गोस्वामि तिलकायित
श्री 108 श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेशजी) महाराज

नाथद्वारा

जन्मतिथि फाल्गुन शुक्ल ७
विक्रम संवत् २००६

प्राकट्य
२४ फरवरी सन् १९५०

गोस्वामि श्री श्रीगिरिधर जी महाराज विरचित

शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

रामकृष्ण भट्ट प्रणीत प्रकाशाख्य व्याख्या सहितः

राष्ट्रभाषा अनुवादक

त्रिपाठी पं. श्री नारायण रामकृष्णजी शास्त्री

पूर्व विद्या विभागाध्यक्ष

सम्पादक एवं संशोधक

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायण जी शास्त्री

साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए. हिन्दी, संस्कृत

विद्याविभागाध्यक्ष

मन्दिर मण्डल – नाथद्वारा (राज0) 313301

प्रकाशक

विद्याविभाग, मंदिर मण्डल, नाथद्वारा

चतुर्थ संस्करण प्रति २००० न्योछावर ३०/-

सम्वत् २०७३

|| श्री हरिः ||

निवेदन

जगद्गुरू श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु का शुद्ध अद्वैतवाद श्रुति स्मृति, पुराणादि "प्रमाण चतुष्टय" से प्रमाणित है। आचार्य श्री वल्लभ के इस 'दर्शन' की गम्भीर एवं विशद व्याख्याएं संप्रदाय के धर्म ग्रन्थों में उपलब्ध है परन्तु शुद्धाद्वैत मार्तण्ड ऐसा ग्रन्थ है जिसमे इस शुद्धाद्वैत दर्शन के विषय में संपूर्ण ज्ञान एक साथ बोधगम्य एवं सहज गतिशील भाषा के द्वारा प्राप्त हो जाता है।

शुद्धाद्वैत मार्तण्ड ग्रन्थ के रचयिता गो. श्रीगिरिधर जी महाराज आचार्य श्री वल्लभाचार्य के पौत्र श्री यदुनाथजी के कुल में मार्गशीर्ष कृष्ण ३ संवत् १८४७ को प्रकट हुए थे। जिस प्रकार भगवान् वेद व्यास द्वारा रचित ब्रह्म सूत्र में ब्रह्म विषयक विशद व्याख्या–प्रमाण निरूपित है ठीक उसी प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन के विषय में तथ्यों एवं प्रमाणों का एकत्रीकरण इसी ग्रन्थ में लिपि बद्ध हुआ है।

मूल ग्रन्थ पर संस्कृत में विशद एवं सरस टीका श्री रामकृष्ण भट्टजी की मानी जाती है। इस टीका का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था।

पूर्व में नि. लीलास्थ गो. ति. १०८ श्रीगोविन्दलालजी महाराज श्री के मनोयोग पूर्वक आदेशानुसार नाथद्वारा के विख्यात, लब्ध प्रतिष्ठित एवं मूर्धन्य विद्वान् स्व. श्री नारायण रामकृष्णजी शास्त्री विद्याविभागाध्यक्ष द्वारा 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' मूल ग्रन्थ एवं इसकी टीका का हिन्दी अर्थ करवाया। पुस्तक को संप्रदाय में अत्यन्त

वैष्णवोपयोगी मानकर विद्या विलासी आचार्यवर्य्य पूज्यपाद गोस्वामि तिलकायित १०८ श्रीराकेशजी (श्रीइन्द्रदमनजी) महाराज श्री ने विद्या विभाग के निवेदन पर इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान की।

यह कार्य "स्वर्णे सुवर्णत्व अथासिगन्धः" सोने में सुगन्ध का कार्य करेगा ।

ग्रन्थ संशोधन में अशुद्धियां रह गई हों तो उसे सहृदय महानुभाव सुधारने अथवा सूचित करने की कृपा करेंगे जिससे अग्रिम संस्करण में उसका सुधार हो सके।

जीवस्वभावतो दोषाः सम्भवन्त्येव कुत्रचित् ।

सद् गुणग्राहिणः सन्तो नैव गृहन्ति तान् पुनः ।।१।।

निवेदक –

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायण जी शास्त्री

साहित्यार्वेदाचार्यः एम.ए. हिन्दी, संस्कृत

विद्याविभागाध्यक्ष मन्दिर मण्डल नाथद्वारा

त्रिपाठी श्रीनारायणजी शास्त्री

त्रिपाठी नारायण जी शास्त्री

नाथद्वारा में वैद्य श्रीरामकृष्णजी त्रिपाठी के यहाँ माघ कृष्ण 11 विक्रम संवत् 1968 तदनुसार दिनांक 14 जनवरी 1912 के दिन भगवदीया श्री भूरीबाई की कोख से आपका जन्म हुआ। बाल्यावस्था से ही आप मे वैदुष्य, परोपकारिता, उदारता आदि सद् गुणों के दर्शन होते थे। बाल्यावस्था में ही आपको अपने पिताश्री का वियोग सहना पड़ा। विषम पारिवारिक परिस्थिति आ जाने पर आपने अपने अध्ययन को अपनी माताजी की सद् प्रेरणा से जारी रखा तथा दूसरी ओर अपने पारिवारिक उत्तर–दायित्व का निर्वहन किया।

बनारस विश्वविद्यालय से व्याकरण मध्यमा एवं बंगाल एसोशियेशन से काव्यतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण कर छात्रों को शास्त्री, आचार्य तथा संस्कृत लेकर बी.ए. एम. ए. करने वालो तक को निःशुल्क शिक्षा देते रहे और इस क्रम को जीवन के अंतिम क्षणों तक रक्खा। श्री शास्त्रीजी पाली, प्राकृत, साहित्य आयुर्वेद, ज्योतिष और वेदान्त के उद्भट विद्वान् थे।

विद्वता के साथ ही आपमें एक विशेष प्रकार की चमत्कृति थी। आपने कुछ समय तक श्रीनाथ पंचाग की पाण्डुलिपि का संशोधन किया तत्पश्चात् ४५ वर्षो तक दृश्य गणित रीति से पंचांग का कार्य करते रहे। गो. ति. श्री १०८ श्री गोविन्दलालजी महाराज की आज्ञा से २३ वर्षो तक विद्याविभागाध्यक्ष–मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा के पद पर सेवारत रहे।

संप्रदाय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ अणुभाष्य, षोड़शग्रन्थ वेदान्त–चिन्तामणि, शुद्धाद्वैत मार्तण्ड मूल एवं संस्कृत टीका का अर्थ किया। ३२ वर्षो से निरन्तर सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर नामक संस्था से जुड़े रहे और संप्रदाय की निष्काम सेवा की। श्रीहरिरायजी महाप्रभु के वचनामृत का मूल संस्कृत एवं ब्रज भाषा में आपने अनुवाद किया।

संस्था के अध्यक्ष पूज्यपाद गो. श्रीब्रजभूषणलालजी महाराज चौपासनी ने शास्त्रीजी की संप्रदाय के प्रति महती सेवाओं से प्रभावित होकर लिखा कि जो कार्य पोने पाँच सौ वर्षो में श्रीसुबोधिनी के हिन्दी अर्थ का नहीं हो सका–वह श्रीशास्त्रीजी ने कर दिखाया। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

गुलाबी पगड़ी, ऊँची–ऊँची धोती,, मुस्कराता हुआ चेहरा उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी। पंडितजी के प्रथम दर्शन में कोई यह नहीं जान पाता था कि इस सादगी में कितना प्रकाण्ड पांडित्य छिपा हुआ है।

आपकी असीम सेवाओं के फलस्वरूप सन् १६७८ में मन्दिर मण्डल द्वारा वल्लभ पंच शताब्दी समारोह पर विद्वद कुल भूषण मानकर सम्मानित किया गया। सन् १६६५ में गो. ति. श्रीदाऊजी महाराज द्वारा इन्हें "वल्लभ पुरस्कार" से सम्मानित किया गया। इसी क्रम में सन् १६८६ में सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल समारोह के तत्वावधान में, तथा साहित्य मण्डल नाथद्वारा से विशिष्ट सम्मान आपको प्रदान किया गया।

जितने तक शास्त्रीजी भूतल पर बिराजे उतने तक सर्वत्र सभी के समादरणीय ही रहे।

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायण जी शास्त्री

साहित्यायुर्वेदाचार्यः एम.ए. हिन्दी, संस्कृत

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

शुद्धाऽद्वैतमार्तण्डः ।

गोस्वामिश्री श्रीगिरधरजीमहाराजविरचितः।
श्रीरामकृष्णभट्टप्रणीतप्रकाशाख्यव्याख्यासहितः।

श्रीमदाचार्यचरणौ श्री विट्ठलपदाम्बुजे ।।
श्रीमतां यदुनाथानां श्रीमद्गिरिधरः सुधी ।।१।।
चरणाम्बुजकिञ्जल्कपरागान् प्रणिपत्य तम् ।।
शुद्धाऽद्वैतविचारार्क तनुते सुधियां मुदे ।।२।।

श्रीमान् गिरिधर सुधी श्रीआचार्यचरणों के चरणों को एवं श्रीविट्ठलनाथजी के चरणारविन्दों को तथा श्रीयदुनाथजी के चरणारविन्द की केसराओं के पराग को नमस्कार करके उस शुद्धाद्वैत विचार रूपी सूर्य को विद्वानों के आनन्द के लिये विस्तृत करते है। (बनाते हैं) ।।२।।

रामकृष्ण भट्ट प्रणीत व्याख्या
श्रीमन्मुकुन्दरायाख्यश्रीमद्गोपाललालयोः।।
अङ्घ्री श्रीवल्लभाचार्य श्रीविट्ठलपदाम्बुजे।।१।।
श्रीमतां यदुनाथानां तदीयाऽन्वयशोभिनाम्।।
श्रीमद्गिरिधराख्यानां पादपद्मे प्रणम्य हि।।२।।
शुद्धाऽद्वैतविचारे ये तैः श्लोकाः समुदाहृताः।।
तदाज्ञया तान् विशदीकरवाणि यथामति।।३।।
श्रीजानिंच प्रणभ्यादौ मातरं पितरं गुरुम्।
नारायणस्त्रयीपाठी भाषांकुर्वे मनोरमाम्।।१।।

व्याख्यार्थ – श्रीमुकुन्दरायजी एवं श्रीगोपाललालजी के चरणों को तथा श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथजी के चरणारविन्दों को तथा श्रीयदुनाथजी के चरण कमलों को एवं यदुनाथजी के वंश में सुशोभित श्रीगिरिधरजी के चरणारविन्दों को प्रणाम करके शुद्धाद्वैत विचार में श्रीगिरिधरजी ने जो श्लोक कहे हैं उन श्लोकों को उन्हीं (श्रीगिरधरजी) की आज्ञा से अपनी बुद्धि के अनुसार विस्तार करता हूँ तथा सबसे पहले विद्वानों, माता, पिता तथा गुरू को प्रणाम कर मैं नारायण त्रिपाठी "शुद्धाद्वैत मार्तण्ड" का मनोरमभाषानुवाद करता हूँ ।।३-१।।

तत्रमङ्लमाचरन्तो यथार्थसिद्धान्तबोधकचरणान्नमन्ति ।। श्रीमदाचार्यचरणावित्यादि ।। श्रीमदाचार्याणां पुरूषोत्तमास्यत्वेन श्रुतीनां वागुपत्वेन तत्कृपया तदर्थस्फूर्त्यर्थं नमनमिति भावः। भवत्पदाम्भोरूहनावमत्र ते निधाय यातास्सदनुग्रहो भवानिति वाक्याच्चरणयोरूद्धारकत्वात् स्वस्याप्युद्धार आभ्यामेवेति भावः । विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लाति स्वदासत्वेन अंगीकरोति स विट्ठलः एतेन पूर्णकरूणामयत्वं सूचितम्। पदाम्बुजत्वोक्त्या भक्तिमतां सन्तापहारकत्वं, भक्तरूपमधुपसेवितत्वं च ध्वनितम्। प्रेमपूरभरितमानसेषु प्रादुर्भावो भवतीत्यपि ध्वन्यते। यदोः पुष्टिभक्तत्वेन तन्नाथत्वात् पुष्टिभक्तानामिष्टफलदातृत्वं सूचितम्। श्रीमद्गिरिधरचरणाः श्रीप्रभुचरणतनयश्रीयदुनाथवंशोद्भवा अस्मदाराध्यचरणाः।।१।।

चरणाम्बुजेत्यादि ।। परागसम्बन्धेन मनोमुकुरनिर्मलतया सर्वसिद्धान्तप्रतिफलनं ध्वन्यते। प्रणिपातः साष्टांगप्रणामः तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नानुसेवया उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन इति श्रीभगवदुक्तेः। तनुते विस्तारयति । एतेन स्वकल्पिततत्वमपास्तम्।

सुधीत्वं च भगवदेकशरणत्वम् तेषां सिद्धान्तावलोकनेनाऽऽनन्दो भविष्यतीत्यर्थः।।२।।

ग्रन्थ में मंगलाचरण करते हुए श्रीगिरिधर जी यथार्थ सिद्धान्त के बोधन करने वालों के चरणों में नमन करते हैं।

श्रीमदाचार्यचरण पुरूषोत्तम के मुखारविन्द रूप हैं और श्रुतियां पुरूषोत्तम की वाणी रूप हैं इसलिये श्रुतियों के अर्थ की स्फूर्ति (ज्ञान) के लिये मुखारविन्द रूप आचार्य चरण को नमन करते हैं । 'आपके चरणारविन्दरूप नौका के सहारे से वे पार हुए हैं आप सज्जनों के ऊपर अनुग्रह करने वाले है' इस वाक्य से चरणों को उद्धार करने वाले बताये हैं, अतः अपना भी उद्धार इन चरणों से होगा (इसलिये चरणों को प्रणाम किया है) जो ज्ञान से शून्य हैं उन को जो अपने दासरूप में अंगीकार करता है उसे विट्ठल कहते हैं। इससे विट्ठलनाथजी अत्यन्त दयालु हैं, यह सूचित हुआ। चरणों को कमल इसलिये बताया कि कमल भक्ति का प्रवर्तक है भक्तों के सन्ताप को दूर करता है और भक्तरूप भोरें कमलों की आराधना करते है ऐसी ध्वनि है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि प्रेम से पूर्ण मानस (मान सरोवर) में ही इस कमल का प्रादुर्भाव होता है। यदु पुष्टि भक्त थे उनके साथ होने से यदुनाथ पुष्टि भक्तों के लिये इष्ट फल देने वाले हैं, यह भी सूचित हुआ। श्रीमद्गिरधर चरण श्रीप्रभुचरण के पुत्र श्रीयदुनाथजी के वंश में उत्पन्न हुए है और हमारे आराध्य हैं ।।१।।

पराग का अर्थ है धूलि, जब मनरूपी दप्रण से पराग का सम्बन्ध करेंगे तो हमारा मन मुकुर निर्मल हो जायेगा, जिससे हमारे मन मुकुर में सब सिद्धान्त प्रतिबिम्बत होंगे यह ध्वनि है।

प्रणिपात कहते हैं साष्टांग प्रणाम को, जैसा कि भागवत में कहा है 'वे तत्वदर्शी ज्ञानी साष्टांग प्रणाम करने पर, पूछने पर तथा सेवा करने पर ज्ञान का उपदेश देंगे । 'तनुते का अर्थ है – विस्तृत करता है इसका आशय यह हुआ कि यह मेरी कल्पना नहीं है केवल एक भगवान् ही जिनके रक्षक हो उन्हें सुधी कहते हैं। उनको इसके (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड के) देखने से आनन्द होगा यह 'सुधियां मुदे' का तात्पर्य है ।।२।।

आभास – एवं प्रतिज्ञायाऽद्वैतज्ञानस्य द्वैतज्ञानसापेक्षत्वेन द्वैतपदार्थमाहुः–

आभास का अर्थ – इस प्रकार प्रतिज्ञा करके अद्वैतज्ञान[1] द्वैतज्ञान की अपेक्षा रखता है इसलिये द्वैत पदार्थ को कहते हैं।

द्विधा ज्ञानं तु यद्यत् स्यान्नामरूपात्मना मुहुः ।।
ईशजीवात्मना वापि कार्यकारणतोऽथवा।।३।।
द्वीतं तदेव द्वैतं स्याददद्वैतं तु ततोऽन्यथा ।।
सर्वं खल्विदं' ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।।४।।

नाम और रूप से, ईश्वर और जीव से अथवा कार्य और कारण से जो द्विधाज्ञान है उसे द्वीत कहते हैं द्वीत ही को द्वैत कहते हैं इससे जो विपरीत है उसे अद्वैत कहते हैं अर्थात् नाम और रूप एक हैं ईश और जीव एक है तथा कार्य और कारण एक ही है अलग अलग नहीं हैं इस प्रकार के ज्ञान को अद्वैत कहते हैं इसमें "सर्वं

१. अभाव ज्ञानं प्रतियोगी ज्ञानाधीनम्। अभाव का ज्ञान तभी होगा। जब जिसका अभाव है उसे हम जान लें।

खल्विदं ब्रह्म" यह श्रुति प्रमाण है अर्थात् यह सब दृष्ट श्रुत जगत ब्रह्म है क्योंकि यह जगत ईश्वर ही में उत्पन्न हुआ ईश्वर में ही लीन होता है और ईश्वर में ही पोषित होता है।।३-४।।

द्विधा ज्ञानं त्वित्यादि।। द्विप्रकारकं ज्ञानमित्यर्थः। नामरूपे व्याकरणवाणीतिश्रृत्या नाम रूपाव्यवहारस्य भगवत्कृतत्वेन भगवद्रूपत्वम्। एतेन, अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकम् आद्यं त्रय ब्रह्मरूप मायारूपं ततः परम्, इति नामरूपयोर्मायिकत्वमिति निरस्तम्। केचित्त्वत्र, जगद्रूपं ततः परमिति पठन्ति। तत्र नामरूपयोर्जगद्रूपत्वेन जगतः कार्यत्वात् कार्यकारणयो रभेदान्नातिप्रतिकूलम्। यथा मृद्धटयोः। अत एव, नामरूपविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः इति मदाचार्यचरणैरुक्तम्। यदि च सधर्मत्वभिया तयोर्मायिकत्वमुच्यते तर्हि अस्तित्वादिनापि सविशेषत्वापत्तेः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। एष ह्येवानन्दयातीत्यादिश्रुतिभिः स्वतः प्रकाशकत्वं सर्वावभासकत्वं सर्वानन्ददातृत्वं यथोक्तं तथा, नामरूपेइतिश्रुत्या नामरूपप्रकाशकत्वमतो न तयोर्मायिकत्वति दिक्। नामरूपभेदज्ञानमेवाविद्यकं, न तु ते। एवमीशजीवभेदज्ञानं, तथा कार्यकारणभेदज्ञानमिति।।३।।

द्वीतमिति।। ये गत्यर्थकास्ते ज्ञानार्थका इति न्यायेन गत्यर्थकादिण्धातोर्भावे क्ते इतमिति सिद्धौ द्विधा इतं द्वीतं तस्मात् स्वार्थेऽणि द्वैतमिति निष्पन्नम्। तस्य च द्विप्रकारकं ज्ञानमित्यर्थः।। अन्यथा = भेदज्ञानाऽभावे।। न द्वैतमद्वैतमिति विग्रहः। ननु कया श्रुत्या अभेद उक्त इति तत्राहुः।। सर्वमित्यादि।। छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायां पञ्चमे प्रपाठके पठितमस्ति, तज्जलानित्यस्याग्रे, शान्त उपासीतेति। अर्थस्तु–जायते लीयते अनितीति जलान् तिस्मिन् जलान् तज्जलान् इदं सर्वं विश्वं खलु उत्पत्तिस्थितिलयावस्थासु तस्मिन्नतः सर्वं ब्रह्मत्युपासीतेति॥४॥

व्याख्यार्थ – द्विधा ज्ञानं का अर्थ है दो प्रकार का ज्ञान 'नाम रूपे व्याकरण वाणि' इस श्रुति से नाम स्वरूप व्यवहार भगवत् कृत हैं अतः वे भगवद्रूप हैं। इस से अस्ति, भाति प्रिय, रूप, नाम इन पांच अर्थो में आदि के तीन ब्रह्मरूप हैं और उसके आगे के नाम रूप मायिक हैं उसका उक्त श्रुति से खण्डन हो जाता है कुछ लोग 'आद्यत्रयं ब्रह्मरूप मायारूपं ततः परम्' ऐसा पढते हैं। उक्त पाठ में नाम और रूप को जगत् रूप माना है जगत् कार्य रूप है कार्य और कारण में भेद नहीं होता इसलिये ऐसा पाठ सिद्धान्त के अत्यन्त प्रतिकूल नहीं है। जैसे मिट्टी और घडे में भेद नहीं है। इसीलिये श्रीमदाचार्यचरणों ने 'नामरूपविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः' ऐसा निबन्ध में कहा हैं अर्थात् नाम और रूप भेद से क्रीड़ा करता है नामरूप भेद से जो जगत् है और नामरूप भेद से जिससे यह जगत् है। यदि समान धर्म इन में न हो इस भय से नाम और रूप को मायिक कहते हैं तोअस्ति, भाति, प्रियं इनके साथ भी नाम रूप की सविशेषता की प्राप्ति हो जायेगी 'तमेव भान्तमनुभान्ति

सर्वम्' जो स्वयं प्रकाश है 'तस्याभासा सर्व मिदं विभाति उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित है 'एष ह्येवानन्दयति' यह ही सब को आनन्दित करता है इत्यादि श्रुतियों से स्वतः प्रकाशकत्व, सर्वावभासकत्व, सर्वानन्ददातृत्व जैसे कहा है वैसे ही 'नामरूपेव्याकरणाणी' इस श्रुति से उस (ब्रह्म) को नामरूप का प्रकाशक बताया है इसलिये नामरूप मायिक नहीं हैं। नामरूपभेदज्ञान अविद्याजन्य नहीं है। इसी तरह ईश और जीव का भेद ज्ञान कार्य–कारण का भेदज्ञान अविद्याजन्य है।।३।।

'ये गत्यर्थकास्ते ज्ञानर्थकाः' जिस धातु का अर्थ गमन (जाना) होता है उसका अर्थ जानना भी होता है ऐसा न्याय है जैसा गच्छति का अर्थ–होता है तो अवगच्छति का अर्थ जानना है यह भी होता है। यहाँ द्वीत पद में जो 'इत' है वह जाने के अर्थ वाले इण् धातु से क्त होकर बनता है। अतः द्वीतं का अर्थ है (द्विधा इतं द्वीतं) जो दो प्रकार का ज्ञान उस द्वीत शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'द्वैतम्' ऐसा बन जाता है इसका अर्थ दो प्रकार का ज्ञान यह होता है। अन्यथा का अर्थ है भेद ज्ञान का अभाव अर्थात् दो प्रकार के ज्ञान के अभाव को 'अद्वैत' कहते है। अद्वैतं मे 'न द्वैतम् अद्वैतम्' इस प्रकार का विग्रह है। यदि यह शंका हो कि किस श्रुति ने अभेद कहा उसके लिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुति ने अभेद बताया है। यह श्रुति छान्दोग्योपनिषद् में शण्डिल्य विद्या में पांचवें प्रपाठक में पढी गई है और 'तज्ज्लान्' इसके आगे शान्त उपासीत यह है। इसका अर्थ उस ब्रह्म में यह जन्मता है, लीन होता है, पोषित होता है इसलिये यह सारा जगत् ब्रह्म रूप है। इस पूरी श्रुति का अर्थ इस प्रकार है– यह सारा

विश्व निश्चित से उत्पत्ति के समय, स्थिति के समय, लयावस्था में ब्रह्म ही में रहता है इसलिये इस सारे विश्व की ब्रह्मरूप से उपासना (आराधना) करनी चाहिये।।४।।

श्रुत्यर्थमाहुः–

आभास का अर्थ – श्रुति का अर्थ कहते हैं।

सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमा बोद्ध्यते पुरः।।
सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टिश्रुतमदो जगत्।।५।।
बोध्यते तेन सर्वे हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम्।।६।।

श्लोकार्थ– 'सर्वं खल्विदं' इस श्रुति में इदं शब्द से इस प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत को ब्रह्म रूप बताया है और सर्व शब्द दृष्ट तथा श्रुत जगत् को ब्रह्म रूप बताया है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप है सनातन नित्य, है। और ब्रह्म रूप कार्य (इस जगत्) का करण भी ब्रह्म ही है।।६।।

सनातनमिति।। सदा वर्त्तमानं नित्यमिति यावत्। सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाना इति, कथमसतः सज्जायेत, तत्सत्यं, यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षत इत्यादिश्रुतेः। असत्यत्वेन ज्ञानं त्वासुराणामेव। तथाच गीतायाम् असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरमिति। ननु जगतो नित्यत्वे द्वैतापत्तिरित्याशङ्कायामाहुः।। कार्यस्येति।। विश्वस्य नित्यत्वेऽपि मृद्घटयोरिव कार्यकारणयोरैक्यान्न द्वैतापत्तिरिति भावः। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिना बोधितब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैवेत्येवकारेण मायादिकारणं निरस्तम्।।६।।

सर्वमित्यादि। इदमेति।। इदंशब्दस्य प्रत्यक्षवाचित्वात्।।५।।

व्याख्यार्थ – इदं' शब्द प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तु को बताता है।।५।।

सनातन का अर्थ है सदा वर्तमान अर्थात् नित्य। हे सौम्य ये प्रजा सम्मूला (ब्रह्म) ही में यह प्रतिष्ठित है। असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है। वह सत्य है। यह जो भी कुछ है वह सत्य कहा गया है। इस जगत् को असत्य आसुर ही जानते हैं। जैसा गीता में बताया है। 'वे असुर इस जगत् को असत्य, अव्यवस्थित एवं अनीश्वर (जिसका कोई करने वाला नहीं) ऐसा मानते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि जगत् को नित्य कहोगे तो द्वैतापत्ति होगी अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो हो गये तो फिर अद्वैत कैसे होगा। इसका समाधान करते हैं कि इस विश्व के नित्य होने पर भी द्वैत नहीं होगा क्योंकि कार्य और कारण में भेद नहीं होता जैसे कार्य रूप घड़ा मिट्टी रूप ही है इसी तरह यह जगत् भी 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि से बोधित ब्रह्मरूप (जगत्) का कारण ब्रह्म ही है यह एव शब्द से बताया गया है अर्थात् इसका माया आदि कोई कारण नहीं है।।६।।

ब्रह्मणः कारणत्वे मानमाहुः–

आभासार्थ – ब्रह्म इस जगत् का कारण है इस में प्रमाण बताते हैं।

जन्माद्यस्येत्यादिसूत्रैर्व्यासपादैर्निरूपितम्।।
यतो वेत्यादिवाक्येषु वेदे स्पष्टं प्रतीयते।।७।।

श्लोकार्थ– इस जगत् का कारण ब्रह्म ही हैं यह व्यासजी ने 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् इत्यादि सूत्रों से बताया है

तथा 'यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा प्रतीत होता है।।७।।

जन्माद्यस्येत्यादीति।। अत्राधिकरणचतुष्टयेन ब्रह्मणः कारणत्वं विचारितम्। तत्र, जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रे, यतो वा इत्यादिवाक्यं विषयीकृत्य, किं ब्रह्म कर्त्तृउताऽकर्त्तृ इति संशये ब्रह्मविदाप्नोति परमितिश्रुत्या ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय सत्यं ज्ञानमनन्त' ब्रह्मेति श्रुत्या स्वरूपलक्षणमुक्त्वा परस्य सर्वान्तररूपत्वबोधनायाकाशाद्वायुरित्यादिसृष्टिरुक्ता।। तत्र प्रकृतिगतं कर्त्तत्वं ब्रह्मणि आरोप्यते। एवं भृगुर्वै वारूणिरित्यत्रापि गौणमेव कर्त्तृत्वम् अनूद्यत इति पूर्वपक्षे, अस्येति प्रत्यक्षस्य जगतो जन्मादि जन्मस्थितिप्रलया यतो यमात् तत् कर्त्तृ। कुतः शास्त्रयोनित्वात् शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिस्तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्माच्छास्त्रोक्तकारणत्वादित्यर्थः। पूर्वोत्तरकाण्डसृष्टिवाक्यानां संग्रहार्थं सामान्यग्रहणम्। स्वरूपलक्षणवाक्यशेषे कर्त्तृत्वनिषेधाकथनात्। प्रत्युत कारणत्वस्य कथनादुपनिषदन्तरेऽस्थूलादिवाक्ये धर्म निषेधनिरूपणेऽपि विरूद्धधर्माश्रयत्वेन प्राकृतधर्म निषेधपरत्वनोपपत्तौ लक्षणापादकस्यारोपस्य दुष्टत्वात्। किञ्च प्रकृतौ कर्त्त्वस्य निषिद्धयमानत्वेन जीवस्य स्वातन्त्र्याभावेन च कर्त्तृत्वाभावाद् ब्रह्मण्यारोपासम्भवः। तस्मात् सकलजगत्कारणं ब्रह्म।। अत्र, जन्माद्यस्य यतः – शास्त्रयोनित्वादिति योगविभागः सर्वेषां मते। तन्न। अग्रिमसूत्रेषु साध्यहेतुनिर्देशपूर्वकमेव दर्शनेनात्रापि तथैव युक्तत्वात्। ये तु जन्माद्यधिकरण, शास्त्रयोनित्वाधिकरण भिन्नमङ्गीकुर्वन्ति, तत्र हि प्रथम सूत्रे हेतोरभावाद् द्वितीये साध्याभावान्न वाक्यार्थसिद्धिरित्यादिदोष इति श्रीपुरूषोत्तमचरणैर्भाष्यप्रकाशे बहुशः खण्डितो योगविभागः।।

द्वितीयेऽधिकरणे, तत्तु समन्वयादितिसूत्रे ब्रह्म समवायि ? उत नेति संशये समवायित्वे विकारित्वापत्तिरिति न तादृश पूर्वपक्षे, तत् समवायि कारणं ब्रह्म। कुतः। समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वाद् अनारोपितानागन्तुकरूपेणान्वयात् घटे मृद इवास्तिभातिप्रियाणाञ्जगत्यनुवृत्तत्वादित्यर्थः। तादात्म्यसम्बन्धेन यदाश्रयं कार्यं भवति तत्। समवायिकारणम् अस्यैवावस्थाविशेष उपादानम् तल्लक्षण च स्वसमानसत्ताककार्याकारेण यदाविर्भवति तदुपादानम्। तृतीयेऽधिकरण चिद्रूपेण कारणत्वम्। आनन्दमयाधिकरणे आनन्दरूपेणकारणत्वं व्यासपादैर्विचारितमित्यर्थः।। यतो वेत्यादीति।। भृगुर्वै वारूणिर्वरूण पितरमुपससार। अधिहि भगवो ब्रह्मेति, तꣳहोवाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति पद् ब्रह्मेति तद्विजिज्ञासस्वेति स्पष्टमेव कारणत्वं ब्रह्मणि प्रतीयत इत्यर्थः।।७।।

व्याख्यार्थ – यहाँ चार अधिकरण से ब्रह्म की कारणता का विचार किया है। उसमें 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य को को लक्ष्य करके क्या ब्रह्म कर्त्ता है ? इस संदेश में 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' इस श्रुति से ब्रह्म वेत्ता को परम पद प्राप्त होता है ऐसी प्रतिज्ञा करके सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति से ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहकर वह परब्रह्म सबके अन्दर है इसका बोध न करने के लिये 'एतस्मादात्मनः आकाशः सभूतः आकाशाद्वायुः' इस श्रुति ने ब्रह्म से आकाश की आकाश से वायु की सृष्टि हुई ऐसा कहा। यहाँ प्रकृति में रहने वाले कर्तृत्व को ब्रह्म में आरोपित कर दिया है इसी तरह 'भृगुर्वैवारूणिर्वरूणं पितर मुपससार अधीहिभगवो ब्रह्मेति तꣳहो वाच यतो वा इमानि

भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् ब्रह्मेति तद् विजिज्ञासस्व, 'इस श्रुति में भी जो ब्रह्म का कर्तृत्व कहा गया है वह गौण है केवल उसका अनुवाद मात्र है ऐसा पूर्व पक्ष है। इसका उत्तर देते है जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' अस्य=इस प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् के जन्मादि=जन्म, स्थिति, प्रत्यय यतः=जिस (ब्रह्म) से हैं वह कर्त्ता है। कैसे ? इसका उत्तर देते हैं 'शास्त्रयोनित्वात्' इसका विग्रह वाक्य इस प्रकार से हैं शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः शास्त्रेयोनेर्भावः शास्त्रयोनित्वं तस्माच्छास्त्र योनित्वात्' अर्थात् शास्त्रों में ब्रह्म को ही इस जगत का कारण बताया है। पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड के सृष्टि वाक्यों का सामान्य रूप से ग्रहण हो जाय इसलिये शास्त्र पद दिया है। ब्रह्म ही जगत का कारण है इसमें दूसरा हेतु यह भी है कि ब्रह्म के स्वरूप लक्षण वाक्य शेष में ब्रह्म के कर्तृत्व का निषेध नहीं कहा है। प्रत्युत ब्रह्म को ही कारण बताया है 'अस्थूलमनणु–'इत्यादि वाक्य में ब्रह्म में धर्मो का निषेध किया है उसका तात्पर्य तो यह है कि ब्रह्म विरूद्धधर्माश्रय है उसमें प्राकृत धर्मो का अभाव है ये स्थूल अणु आदि प्रकृति के धर्म हैं उनका ब्रह्म में अभाव है इसलिये लक्षणा पादक आरोप सदोष है।

एक बात यह भी है कि प्रकृति में जब कर्तृत्व का निषेध है और पराधीन होने से कर्त्ता हो नहीं सकता तो ब्रह्म में कर्तृत्व का आरोप कैसे संभव है अर्थात् प्रकृति में कर्तृत्व का निषेध है तथा जीव स्वतंत्र नहीं है क्योंकि कर्त्ता तो स्वतन्त्र ही होता है 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इसलिये इस सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता (कारण) ब्रह्म ही है।।

यहाँ जन्माद्यस्य यतः शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र का योग विभाग करते हैं अर्थात् जन्माद्यस्य यतः' यह एक सूत्र है और

'शास्त्रयोनित्वात्' यह दूसरा सूत्र है ऐसा सभी आचार्य मानते है पर ऐसा मानना ठीक नहीं। उक्त सूत्र के अतिरिक्त जितने भी सूत्र आगे आये हैं उनमें साध्य तथा हेतु पूर्वक ही निर्देश मिलता है तो यहाँ भी 'जन्माद्यस्य यतः' इस साध्य को और 'शास्त्रयोनित्वात्' इस हेतु को अलग नहीं करना चाहिये। जो लोग 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र को 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र को अलग-अलग मानते हैं तो प्रथम सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में हेतु का अभाव होगा और दूसरे (शास्त्रयोनित्वात्) सूत्र में साध्य का अभाव रहेगा तो वाक्यार्थ की सिद्धि नहीं होगी। इत्यादि दोष आयेंगे इसलिये इस योग विभाग का खण्डन भाष्य प्रकाश में श्रीपुरूषोत्तमजी महाराज ने अनेक प्रकार से किया है।

द्वितीय अधिकरण में 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र में ब्रह्म इस जगत का समवायि कारण है अथवा नहीं, इस संदेह में समवायि कारण मानने पर वह ब्रह्म विकारी हो जायेगा। इसलिये उसे समवायि कारण नहीं मानना चाहिये ऐसा पूर्व पक्ष था। उसका खण्डन इस 'तत्तु समन्वयात्' में किया है। तत्=वह ब्रह्म समवायि कारण है। कैसे ? इसका उत्तर देते हैं समन्वयात्=पूर्ण रूप से सब में समवेत है वह आरोपित अथवा आगन्तुक रूप से अन्वित नहीं है। जिस प्रकार घड़े में मिट्टी समवेत है उसी तरह जगत् में ब्रह्म अस्ति, भाति प्रिय रूप से अनुवृत्त है। तादात्म्य सबन्ध में से यदाश्रय कार्य होता है वह समवायि कारण होता है। इसी की अवस्था विशेष को उपादन कहते हैं। उपादान का लक्षण है। 'स्वसमान सत्ताक कार्याकारेण यदाविर्भवति तदुपादानम्' अपनी सत्ता के साथ जो कार्य के आकार में प्रकाश में आता है वह उपादान कहलाता है।

तृतीय अधिकरण में चिद्रूप से ब्रह्म को कारण बताया है और आनन्द मयाधिकरण में व्यासजी ने आनन्द रूप से ब्रह्म की कारणता का विचार किया है।

यतो वेत्यादि से जिस श्रुति की सूचना की है वह श्रुति इस प्रकार है'भृगुर्वै वारूणिर्वरूणं पितर मुपससार। अधीहि भगवो–ब्रह्मेति तःऊ हो वाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद् ब्रह्मेति तद्विजिज्ञासस्वेति' इस श्रुति से स्पष्ट ही ब्रह्म में कारणता प्रतीत होती है।।७।।

एवं ब्रह्मणः कारणतामुपपाद्य ब्रह्मणो लक्षणमाहुः–

आभासर्थ – इस तरह ब्रह्म इस जगत् का कारण है यह बताया अब ब्रह्म का लक्षण कहते हैं।

साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।।
सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदं जगत्।।८।।

श्लोकार्थ– वह ब्रह्म साकार है, सर्व शक्तिमान् है, एक है, सर्वज्ञ है, सबका कर्त्ता है और सच्चिदानन्द रूप है उस ब्रह्म से यह जगत उत्पन्न होता है, स्थिति को प्राप्त करता है तथा लय को प्राप्त होता है।।८।।

साकारमित्यादि।। आनन्दाकारमित्यर्थः विश्वतश्चक्षुरूत विश्तोमुखो विश्वतोबाहुरूत विश्वतस्पात्। सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एक इति तैत्तिरीये श्वेताश्वतरे चास्ति श्रुतिः। अत्र मुखादीनां सर्वत्र विद्यमानत्वमुक्तं सर्वेन्द्रियोपलक्षणम् तेन साकारस्यैव व्यापकत्वम्। बाहुभ्यामितिद्विवचनेन ब्रह्मणो द्विभुजत्वं

श्रुतिसिद्धम्।। चतुर्भुजत्वं तु स्मृतिप्रसिद्धम्। देव इत्यनेन लीलास्थपुरूषोत्तमस्यात्र ग्रहणम्। दिवुधातोः क्रीडार्थकत्वात्। छान्दोग्ये, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस इत्युक्तम्। रसो वै स इति तैत्तिरीये। सहस्त्रशीर्षा पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपादिति पुरूषसूक्तेऽपि साक्ारत्वम्। अग्रे, ततो विराडजायतेतिकथनान्नयं विराट् पुरूषः। सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमित्यादिगीतायाम्। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरिति नारदपञ्चरात्रे। अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहमिति। याज्ञवल्क्यस्मृतौ।।

नन्वपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अस्थूलमनण्वित्यादिषु श्रुतिषु निषेधात् कथं साकारत्वमिति चेन्न। अपाणिपादत्वमुक्त्वा यज्जवनग्रहीतृत्वमुक्तं, तेन लौकिकपाणिपादादिनिषेधपरम्। अनण्वित्यादिवाक्येऽप्यग्रे, एतस्य प्रशासने गार्गि द्यावाभूमी विधृते तिष्ठत इत्युक्तम्। यथा सैन्धवो बाह्योऽन्तरः कृत्सनो रसघन एवं वारे अयमात्मा कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवेति श्रुतौ घनपदेन साकारत्वलाभात्। अर्थस्तु यथा सैन्धवः सर्वपरिदृश्यमानो रसघन एवं ब्रह्मापि यावत्तावत् सर्वं प्रज्ञानघन एवेति। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतेः। यः सर्वज्ञः सर्वविदितिश्रुतेः। सर्वकर्त्ता सर्वभोक्ता चेति। सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेरानन्दमात्रमेव। एवं एवञ्चकरादिरपि ब्रह्मैव इदं।। परिदृश्यमानम्॥८॥

व्याख्यार्थ– साकर का अर्थ है आनन्दाकार जैसा कि तैत्तरीयोपनिषद् एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है 'सर्वत्र जिसके नेत्र है सर्वतोमुख है एवं सर्वत्र जिसके भुजा है तथा सर्वत्र जिसके पैर हैं। वही मनुष्य आदि को दो भुजाओं से युक्त करता

है और पक्षियों को पक्षों से युक्त करता है द्यावाभूमि (आकाश और पृथ्वी) को उत्पन्न करने वाला वह एक हीदेव है। यहाँ पर मुख आदि की सर्वत्र विद्यमानता कही है उसका तात्पर्य यह है कि सभी इन्द्रियां सर्वत्र हैं। इसलिये व्यापकता साकार की ही होती है। उक्त श्रुति में सम्बाहुभ्यां धमति 'ऐसा द्विवचन कहा है उसका आशय यह है कि ब्रह्म की द्विभुजता श्रुति सिद्ध है। और चतुर्भुजत्व स्मृति में प्रसिद्ध है। देव शब्द से लीलाशब्द मे स्थित पुरूषोत्तम का यहाँ ग्रहण किया है। क्योंकि दिवु धातु क्रीड़ा अर्थ वाला है उससे देव शब्द बनता है अतः देव का अर्थ क्रीड़ा होता है। छान्दोग्यउपनिषद् में ब्रह्म को सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस है ऐसा कहा है तैत्तिरीय उपनिषद् मे 'रसो वैसः' से उसे रस रूपमाना है। 'सहस्त्रशीर्षाः पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्' इस पुरूष सूक्त में ब्रह्म को साकर माना है। तथा आगे भी ततो विराडजायत' इसी ब्रह्म से विराट् उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है इसलिये यह ब्रह्म विराट् पुरूष नहीं है। गीता में भी ब्रह्म को 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' सर्वत्र जिसके हाथ पैर तथा आकाश विद्यमान है एवं सर्वत्र जिसके नेत्र सिर और मुख है ऐसा कहा है। नारदपञ्चरात्र में कहा है कि उस ब्रह्म के हाथ, पैर, मुख उदर आदि सब आनन्दमय हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में परमानन्द (शरीर) वाले परमात्मा को ऐसा कहा हैं।

शंका होती है कि ब्रह्म के लिये अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' हाथ पैर के न होने पर भी वह दौड़ता है वस्तु को पकड़ता है ऐसा कहा 'पश्यत्यचक्षुः' आंखों के बिना भी वह देखता है स शृणोत्यकर्णः कानों के न होने पर भी वह सुनता है।' अस्थूलमनणु वह स्थूल

भी नहीं है अणु भी नहीं है। इन श्रुतियों में जब इन्द्रियों का तथा स्थूलादि गुणों का निषेध है तो ब्रह्म साकार कैसे हो सकता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि श्रुति में कहा है उसके हाथ पैर नहीं है परन्तु ग्रहण करता है दौड़ता है इसका आशय यह है कि उस ब्रह्म के लौकिक हाथ पैर नहीं है। इसी तरह 'अनणु–इत्यादि वाक्य के आगे 'एतस्य प्रशासने गार्गि द्यावाभूमी विधृते तिष्ठतः' हे गार्गी इस ब्रह्म के सहारे ही आधार से ही ये आकाश और पृथ्वी स्थित है। इससे ब्रह्म साकार है ऐसा सिद्ध होता है और भी श्रुति में बताया है कि यथा सैन्धवो ब्राह्येन्तरः कृत्स्ने। रसघनः एव वारे अयमात्मा कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवेति, जिस तरह सारा सेंधा नमक जो दिखता है वह बाहर एवं भीतर से घनीभूत रस रूप है उसी तरह यह सम्पूर्ण ब्रह्म भी घनीभूत ज्ञान रूप ही है इस श्रुति से साकारता प्राप्त होती है। 'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया चेति' इस श्रुति से तथा 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुति से एवं सर्वकर्त्ता सर्वभोक्ता च' और सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को आनन्द मात्र माना है एवं ब्रह्म के कर पाद आदि ब्रह्म रूप ही हैं। इदम् का अर्थ है यह दीखने वाला सब॥८॥

सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणः सकाशाज्जगदुत्पत्तौ जडजीवाऽन्तर्यामिणां सदादिभ्य उद्‌गम इत्याहुः–

आभासार्थ – सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में जड़–जीव–अन्तर्यामी की क्रमशः सत् आदि अंशो से उद्‌गम हुआ है इसे कहते है–

जडजीवान्तः स्थितानां यथाक्रमश उद्‌गमः।।
अग्नेर्यथा विस्फुलिङ्गास्तथा जीवोद्‌गमः स्फुटः॥९॥

श्लोकार्थ–(जड़ जीव और अन्तर्यामी का) (यथाक्रम) उस सच्चिदानन्द ब्रह्म से) उद्‌गम होता है। अग्नि से जैसे अग्नि कणों का उद्‌गम होता है उसी तरह जीवों का उद्‌गम ब्रह्म से होता है ऐसा वेदों में स्पष्ट है॥६॥

जडेत्यादि।। उद्‌गमो निःसरणम्। जीवोद्‌गमे श्रुत्युक्तं दृष्टान्तमाहुः।। अग्नेरिति।। यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंडगा व्युच्चरन्ति, एवमेव तस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वेजीवाः कपूयचरणा रमणीयचरणा इति मुण्डकश्रुतौ। एतेन जीवस्योत्पत्तावनित्यत्वापत्तिरिति निरस्तम्। जीवस्य निःसरणमेवोच्यते, न तूत्पत्तिः।।६।।

व्याख्यार्थ– उद्‌गम का अर्थ है निकलना, जीव के उद्‌गम विषय के में श्रुति में कहे हुए दृष्टान्त को कहते है 'यथा सुदीप्तात्– जैसे प्रज्वलित अग्नि से आग के छोटे–छोटे कण निकलते हैं उसी तरह उस ब्रह्म से सब प्राण, सब लोक, सब जीव पापी तथा सदाचारी निकलते हैं, इस श्रुति से जीव यदि उत्पन्न होगा तो उसमें अनित्यता आ जायेगी यह सब दोष मिट गया। इस श्रुति में जीव का निकलना बताया है उत्पत्ति नहीं कही।।६।।

ननु जीवस्य विस्फुलिंगवन्निः सरणे अंशत्वे सर्वशरीरगतचैतन्यानुपलम्भस्तत्राहुः–

यदि जीव अग्नि के कणों (पतंगों) की तरह निकलता है तो वह अग्नि का अंश हुआ, अंश पूरे शरीर में व्यापक कैसे होगा अर्थात् उस जीव की चेतनता सम्पूर्ण शरीर में कैसे हो सकेगी ?

विसर्पिगुणचैतन्योऽणुजीवोंऽशो हरेः स्मृतः।।
जड़े चिदानन्दयोस्तु चित्यानन्दस्य सर्वशः।।१०।।

तिरोधानं हरिच्छातो निबन्धादिषु वर्णितम्।।
आविर्भावे तु सर्वं हि ब्रह्मैवेति न संशयः।।११।।

श्लोकार्थ–जीव विसर्पि (फैलने वाले) चैतन्य गुण वाला है, अणु है और भगवान् का अंश है। जड़ पदार्थ में भगवान् के चित् और आनन्द अंश का सब प्रकार से भगवान् की इच्छा से तिरोभाव है यह निबन्ध आदि में वर्णित है। जिस समय जड़ में भी भगवान् की इच्छा से चित् और आनन्द का आविर्भाव हो जाता है सब ब्रह्म ही हो जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं।।१०-११।।

विसर्पित्यादि।। विसर्पि प्रसरणशीलं चैतन्यं गुणो यस्य सः। यथा मणेः प्रभा। तथाच व्याससूत्रम्। गुणाद्वाऽऽलोकवत्। अर्थस्तु। जीवस्य चैतन्यं गुणस्तस्मात् सर्वशरीरव्यापी। तत्र दुष्टान्तः। आलोकवत्। सूर्यमण्यादिप्रभा यथा बहुदेशं व्याप्नोति तद्वित्यर्थः। अग्ने, व्यतिरेको गन्धवत् अर्थस्तु। व्यतिरेकः। अधिकदेशवर्त्ती चैतन्यं गुणः। गन्धवत्। यथा चम्पकादेर्गन्धश्चम्पकाधिकदेशस्थले उपलभ्यते तद्वदित्यऽर्थः नच चम्पकात्तदवयवानां निस्सरणे गन्धोपलब्धिरिति वाच्यम्। निस्सरण न्यूनत्वापत्तेः भोग्योदृष्टत्वेन तदवयवपूरणकल्पनायां गौरवात्। किञ्चोग्रगन्धादेः स्पर्शो मुहुर्मुहुः क्षालनेन सुगन्धानपगमादनेकचर्मपुटवेष्टितस्य मृगमदस्य सुगन्धोपलब्धेश्चातोऽवयकल्पना निरस्तेति दिक्।।

किञ्च तृतीयोऽपि दृष्टान्तः। अविरोधश्चन्दनवत्। अर्थस्तु। यथा चन्दनमेकदेशस्थितं। सर्वशरीरे सुखं शैत्यं च जनयति

तद्वदणुत्वेऽपि सर्वशरीरचैतन्योपलब्धिमित्यर्थः। एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इतिश्रुतेः नित्यः सर्वगस्थाऽणुरितिस्मृतेश्च। सर्वगतेन ब्रह्मणा सह तिष्ठतीति सर्वगतस्थः। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते इति श्रुतेः। स चासावणुश्चेति तदर्थः यदि यथाश्रुतार्थः स्यात्। तर्हि स्थाण्वचलपदयोः पर्यायत्वापत्तौ पौनरुक्त्यं स्यात् अंशो नाना व्यपदेशादिति व्याससूत्राद् अंश। अर्थस्तु। जीवो ब्रह्मणः।

अंशः। कुतः। नानाव्यपदेशात् क्वचिद् ब्रह्मत्वेन क्वचिदज्ञत्वेन क्वचिदीशितव्यत्वेनाऽणुत्वेन व्यापकत्वेन निरूपणादेवस्यैव विरूद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य न सम्भवति। अतो जीवो ब्रह्मांश इति।। हरेरिति।। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः इति गीतावाक्यतः। ननु सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन कथं त्रैविध्यमत आहुः, जडे चिदानन्दयोरित्यादिना।। आनन्दतिरोभावेन भेद इति भावः।।१०।।

तिरोधानमिति।। एकोऽहंबहुस्यामितिश्रुतिसिद्धेच्छात इत्यर्थः ननु तर्हि भेदापत्तिरत्राहुः।। आविर्भाव त्वित्यादि।। आनन्दाविर्भावो जीवो, चिदानन्दयोर्जडे।।११।।

व्याख्यार्थ – विसर्पि अर्थात् फैलने वाला चैतन्य गुण जिसमें है। जैसे मणि की कान्ति अपने आस पास सर्वत्र फैलती है यही बात व्यास सूत्र में कही है 'गुणाद्वालोकवत्' जीव का गुण चैतन्य है वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। इसमें दृष्टान्त है 'आलोकवत्' सूर्य अथवा मणि की कान्ति जैसे बहुत से प्रदेश में व्याप्त होती है उस तरह आगे भी 'व्यतिरेको गन्धवत्' व्यतिरेक का अर्थ है अधिक देश में रहने वाला चैतन्य गुण 'गन्धवत्' है अर्थात् चम्पा आदि पुष्पों की गन्ध अधिक देश में जैसे उपलब्ध होती है उसी तरह इस जीव का

चैतन्य भी अधिक देश (पूरे शरीर) में उपलब्ध होता है। यदि कहो कि चम्पा आदि पुष्पों के अवयव निकलते रहते है इसलिये हमें गन्ध की उपलब्धि होती है उसमें कोई विसर्पि नहीं है तो अवयवों के निकलने पर पुष्प में कमी हो जानी चाहिये। यदि यह कहो कि भोग्य अदृष्ट के द्वारा पुनः उसकी पूर्ति हो जाती है ऐसी कल्पना में गौरव होता है अतः ऐसा कहना ठीक नहीं। यदि माना कि पुष्प के अवयव निकलते रहते हैं और उसकी गन्ध हमें उपलब्ध होती है तो जिनमें बहुत उग्र गन्ध होती है उनका स्पर्श हमारे हाथ से हो जाय या उग्र गन्ध का स्पर्श हमारे कपड़े में हो जाय, उन्हें बार–बार धोने पर भी वह गन्ध नहीं जाती तो यदि उसके अवयव होते तो धोने पर वे अलग क्यों नहीं हुए। दूसरी बात यह भी है कि कस्तूरी अनेक चमड़ों के अन्दर बन्द रहती है फिर भी उसकी सुगन्ध हमें उपलब्ध होती है, चमड़ो की परत में रहने पर उसके अवयव कैसे निकल सकते हैं इसलिये अवयवों के निकलने से गन्ध की उपलब्धि होती है यह कहना ठीक नहीं। इन आलोक और गन्ध के दृष्टान्त से अणु होने पर भी जीव की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है।

अब तीसरा दृष्टान्त देकर भगवान् व्यास जीव की व्यापकता को समझाते हैं 'अविरोधाच्चन्दनवत्' जैसे चन्दन शरीर के किसी एक स्थान में लगाया जाता है किन्तु उसकी ठण्डक का अनुभव सारे शरीर में होता है उसी तरह जीव के अणु होने पर भी उसकी चेतनता की उपलब्धि पूरे शरीर में होती है। जीव को श्रुति अणु बताती है 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः यह जीव अणु है इसे मनन के द्वारा समझना चाहिये। स्मृति (गीता) में भी ऐसा ही वर्णन है 'नित्यः सर्वगतस्थाणुः' यह जीव सर्वव्यापी भगवान् में स्थित है अणु है और

नित्य है। श्रुति में भी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' दो पक्षी (जीव और अन्तर्यामी) साथ ही रहते हैं ये दोनों मित्र हैं एक ही वृक्ष (शरीर में) ये मिलते (रहते) है ऐसा कहा है। वह जीव अणु है ऐसा इसका अर्थ है यदि जैसा लिखा है वैसा ही अर्थ माना जाय तो स्थाणु और अचल पद एक ही अर्थ होने से एक दूसरे का पर्यायवाची हो जायेगा तो पुनरुक्त दोष आ जायेगा। 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस व्यास सूत्र से जीव को ब्रह्म का अंश बताया है उस में हेतु दिया है। नानाव्यपदेशात्' उस (जीव) का अनेक रूपों से निरूपण किया है। कहीं जीव को ब्रह्म बताया है कहीं अज्ञ बताया तो कहीं ईशतव्य (पराधीन) तो कहीं अणुत्व व्यापक रूप से निरूपण किया है एक ही (जीव) को परस्पर विरूद्ध धर्म वाला बताया है ब्रह्म से भिन्न यदि जीव हो तो कैसे हो सकता है। विरूद्ध धर्माश्रय तो ब्रह्म ही है इसलिये स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म का अंश जीव है इसमें 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' यह गीता वाक्य प्रमाण है। जगत् में जीव रूप में मेरा ही सनातन अंश है जब सम्पूर्ण ही जगत् ब्रह्मरूप है तो इसमें जड़ चेतन, ब्रह्म इस प्रकार तीन भेद कैसे हैं इसके समाधान के लिये चिदानन्द का तिरोभाव जड़ में है और आनन्दांश का तिरोभाव जीव में है इसलिये जड़–जीव और ब्रह्म में भेद है ऐसा कहा। जीव में आनन्द का तिरोभाव भगवान् ने अपनी इच्छा से किया है इसमें 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' यह श्रुति प्रमाण है मैं अकेला हूँ इसलिये अनेक रूप में बन जाऊँ। इस श्रुति से तो जगत् का ब्रह्म के साथ भेद हो जायेगा इसके लिये कहा कि 'आविर्भावे तु सर्वे हि ब्रह्मैव' जब भगवान् अपने आनन्दांश को प्रकट कर देते हैं तो सारा जगत् ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् जीव में आनन्दांश के प्रकट होने पर और जड़ में चित् और आनन्द के प्रकट होने पर ब्रह्मरूपता हो जाती है।।१०–११।

ननु जीवादिभावे किं प्रयोजनमत आहुः–

आभासार्थ – ब्रह्म जीव आदि क्यों बना इसका क्या प्रयोजन है यह कहते हैं–

रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छायाऽभवत्।।
यथा सर्पः स्वेच्छाया हि कुण्डलाकारतां गतः।।१२।।
न विकारि तथा ब्रह्म व्यासैः सूत्रे निरूपितम्।।
सुवर्णस्याविकारित्वं कामधेनोर्मणेरपि।।१३।।

श्लोकार्थ – ब्रह्म ही अपनी इच्छा से रमण (क्रीडा करने) के लिये यह सब (जगत्) बन गया परन्तु जैसे सर्प अपनी इच्छा से कुण्डलाकार बन जाता है तो उसे कोई विकारी नहीं कहते इसी तरह ब्रह्म भी अनेक रूप हो जाय तो भी वह विकारी नहीं होता। इसका निरूपण व्यासजी ने अपने 'उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत्' इस सूत्र में किया है। जैसे सुवर्ण अनेक आभूषणों के रूप में परिणत होने पर भी विकारी नहीं होता। जैसे कामधेनु और चिन्तामणि से इच्छित वस्तु से प्राप्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता, उसी तरह ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् के उत्पन्न होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता।।।१२-१३।।

रमणार्थमिति।। एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्, तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यादि श्रुतेः। ननुः, तर्हि विकारित्वापत्तिस्तत्राहुः।।यथेति।।१२।।

सूत्रे इति।। उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवदिति सूत्रे इत्यर्थः। अर्थस्तु, उभयोर्विरुद्धधर्म– योर्व्यपदेशस्तस्मात्। निर्गुणत्वेन अनन्तगुणत्वेन

परिणामित्वेनाविकारित्वेन विरूद्धधर्मरूपेण व्यपदेशाच्छ्रूतौ कथनात् सर्वाकारं ब्रह्मेत्यर्थः। तथाच श्रुतिषु, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेत्युक्त्वा, एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकबीजं बहुधा यः करोति, ततो यदुत्तरं तदरूपमनामयमित्यग्रे सर्वाऽऽननशिरोग्रीव इति श्वेताश्वतरे। तैत्तरीये–यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं, विश्वतश्चक्षुरूत विश्वतोमुख इत्यादि चोक्तम् तथानन्दवल्ल्यां तदात्मा ँ स्वयमकुरूत, यद्वैतत्सुकृतमिति। अविनाशी वा अरेऽयमात्मेत्यादिकं चान्यत्रोक्तमेवं विरूद्धधर्माश्रयत्वेन बहुशो व्यपदेशादित्यर्थः। तर्हि कथमेकमनेकधेति तत्राह। अहिकुण्डलवत्। यथा सर्पः सरलः कुण्डलाकारश्च भवति। तद्वत् ब्रह्म सर्वाकारं भवति। न हि सर्पस्य कुण्डलाकारे कोऽपि विकारः भाष्ये तु, सर्वाणि तैजसान्यविकृतानीत्युक्तम् एवञ्च सुवर्णस्यानेकाकारत्वेऽपि न सुवर्णस्यान्यथाभावः। सुबोधिन्यां तु, कामधेनुकल्पद्रुमचिन्तामणेश्च जाय मानाः पदार्था दृश्यन्ते, तेन न कामधेन्वादीनां विकृतत्वमित्युक्तमितिदिक् ॥१३॥

व्याख्यार्थ – रमणार्थ का आशय यह है कि अकेले ब्रह्मको अपने रमण की इच्छा हुई तब उसने अपने से अतिरिक्त की इच्छा की और उसने अपने ही को जगत् के रूप में परिणित कर लिया। शंका होती है कि अनेकता बिना किसी विकार के नहीं होती इसलिये ब्रह्म विकारी हो गया इसका उत्तर देते हैं कि 'उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत् दोनों विरूद्ध धर्मो को श्रुति ने कहा है जैसे ब्रह्मको निर्गुण भी श्रुति कहती है और अनन्त गुण वाला है ऐसा भी श्रुति ही कहती है। इसी तरह परिणामी और अविकारी इन विरूद्ध धर्मो को भी श्रुति ने ही कहा है इसलिये मानना पड़ेगा कि ब्रह्म सभी प्रकार के आकार वाला है। श्रुतियों में कहा है कि वह ब्रह्म

साक्षी है, चेता है और केवल निर्गुण है। ऐसा कह कर फिर श्रुति ने कहा है कि वह एक है, वशी है अनेक निष्क्रियों का वह बीज है और अनेक रूपों में वह करता है। उसे पूर्व में बताये हुए हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) से जो अत्यन्त उत्कृष्ट है, वह परब्रह्म निराकार और दोषों से रहित है। इसके आगे फिर श्रुति कहती है– वह भगवान् सब और मुख, सिर और ग्रीवा वाला है इस तरह श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी जो एक है, अव्यक्त है, अनन्तरूप है उस ब्रह्म के सब और नेत्र हैं और सब और मुख हैं' इत्यादि कहा तथा आनंदवल्ली में भी उस ब्रह्म ने अपने से ही स्वयं को इस रूप में प्रकट किया यह उसका सुकृत (अच्छा कार्य) है। इसी तरह अरे यह आत्मा अविनाशी है, ऐसा भी कहा है। अतः ब्रह्म विरूद्धधर्माश्रय है। अर्थात् श्रुतियों ने ही ब्रह्म को विरूद्धधर्माश्रय माना है। यहां यह शंका हो सकती है कि एक अनेक तरह का कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर व्यासजी ने अपने सूत्र में अहिकुण्डल का दृष्टान्त देकर समझाया है। जैसे सर्प सीधे दण्डे की तरह भी हो सकता है, कुण्डल के आकार में भी रह सकता है उसी तरह ब्रह्म सर्वाकार हो सकता है। जिस समय सर्प कुण्डल के आकार में उस समय भी कोई विकार नहीं है। भाष्य में तो यह कहा है कि तेजस जितने भी होते हैं उनमें कोई विकार नहीं होता। इसी तरह सुवर्ण के अनेक आकार होने पर सुवर्ण में अन्यथा भाव नहीं होता। सुबोधिनी में तो बताया है कि कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से होने वाले पदार्थ दीखते हैं उससे कामधेनु आदि में कोई विकार नहीं होता है॥।१२-१३॥

ननु सर्वस्य घटादेरूत्पत्तिनाशदर्शनेनाऽनित्यत्वात् कथं भगवद्रूपत्वं कार्यस्येत्याशङ्कामपनयन्ति

आभासार्थ – जब जगत् में घट–पट आदि की उत्पत्ति और नाश देखा जाता है तो ये अनित्य हैं तब कार्यरूप यह जगत् भगवत् रूप कैसे होता है ? इस आशंका को दूर करते हैं।

आविर्भावतिरोभावौ पदार्थानां यतस्ततः।
नानित्यता तु विज्ञेया शास्त्रविद्भर्विचक्षणैः ।।१४।।

श्लोकार्थ – जिस कारण से पदार्थो का आविर्भाव और तिरोभाव होता है इसी से शास्त्र वेत्ताओं को पदार्थो की अनित्यता नहीं जाननी चाहिये अर्थात् शास्त्रों में पदार्थो का अविर्भाव तिरोभाव बताया है उससे हमें जगत् को असत्य नहीं समझना चाहिये।।१४।।

आविर्भावेत्यादि।। घटपटादिसर्वाऽऽकारस्वरूपेण या भगवत आविर्भावेच्छा तया आविर्भवति। तथाच श्रीमदाचार्यचरणैर्निबन्धे–

मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।
मूलेच्छातस्तस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा, इति।।

व्याख्यातं च तैरेव–मृदि घटादयो यावन्तो भविष्यन्ति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तन्त इत्यगड़ीकर्तव्यम्। अन्यथा ततः प्रादुर्भावो नोपपद्यते। ततः सामर्थ्य भगवत्त्वेन सङ्गच्छते। अतो मृदादिभगवद्रूपं घटादिकार्य च भगवद्रूपं तत्रैव तिष्ठति। मूलेच्छातः पुरूषोत्तमेच्छात इति।।

तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।

आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्, इति विष्णुपुराणे प्रथमेंऽशे। वस्तुतो नित्यं, किन्त्वाविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्। आविर्भावश्च तिरोभावश्च आविर्भावतिरोभावो तावेव जन्मनाशविकल्पौ तद्वदित्यर्थः। आविर्भावतिरोभावौ शक्ति वै मुरवैरिणइति वाक्यं

श्रीमदाचार्यचरणैरूक्तम्। भगवच्छक्तित्वादेव वीर्यादिपरिणामानां देहादिभावः। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, इति श्रुतेः। अनन्तशक्तित्वाद् भगवतः।।१४।।

व्याख्यार्थ – घट पट आदि सब आकार स्वरूप से जो भगवान् की इच्छा है उसी इच्छा से भगवान् आविर्भूत होते हैं जैसा कि श्रीमदाचार्य चरणों ने निबन्ध में लिखा है –

मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।
मूलेच्छातस्तथा तस्मिन्प्रादुर्भावो हरेस्तदा, इति।।

और आचार्य चरणों ने उक्त कारिका का व्याख्यान भी किया है – मिट्टी में घड़े सिकोरे आदि जितने भी होंगे वे सब कारण रूप से मिट्टी में हैं ऐसा स्वीकार करना होगा यदि ऐसा न माना जाय तो उस मिट्टी से उन घट आदि का प्रादुर्भाव हो नहीं सकता। मिट्टी में घट आदि रूप में उत्पन्न होने का सामर्थ्य उस में भगवत्व मानने पर ही संगत होगा। इसलिये मिट्टी आदि कारण भगवद्रूप है और घट आदि कार्य भी भगवद्रूप है और भगवद्रूपता उनमें स्थित रहती है। जब मूल अर्थात् भगवान् की इच्छा होती है तब कार्यात्मक भगवद्रूप घट का प्रादुर्भाव होता है। विष्णु पुराण के प्रथम अंश में लिखा है कि हे मुनिवर यह संपूर्ण जगत् अक्षय एवं नित्य है इसका आविर्भाव तिरोभाव होता है जिसका नामांतर जन्म और नाश है 'आविर्भाव तिरोभावौ शक्ति वै मुरवैरिणः' आविर्भाव एवं तिरोभाव ये भगवान् मुरारि की शक्ति है ऐसा श्रीमदाचार्य चरणों ने कहा है। आविर्भाव–तिरोभाव भगवान् की शक्ति है इसीलिये वीर्यादि परिणामों का देहादि भाव कहा है। श्रुति भी कहती है–यह

भगवान् की शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है और ज्ञान बल क्रिया भी स्वाभाविक है। क्योंकि भगवान् अनन्त शक्ति है।।१४।।

आविः प्रकटं भावयति कारणान्तः स्थं कार्य बहिः प्रकटीकरोति या शक्तिर्निमित्तगतोपादानगता च सा आविर्भावशक्तिः। कार्यं कारणे तिरोभावयति सा शक्तिस्तिरोभावशब्दवाच्येत्यभिप्रेत्याहुः–

आभासार्थ–आविर्भाव का अर्थ है प्रकट करना कारण के अन्दर रहने वाले कार्य को जो शक्ति निमित्त कारण में अथवा उपादान कारण में रहकर कार्य को बाहर प्रकट करती है वह आविर्भाव शक्ति है और जो कार्य को कारण में छिपा देती है वह शक्ति तिरोभाव शब्द से कही जाती है इस अभिप्राय से कहते हैं।

तिरोभावे तु कार्यं हि वर्तते कारणात्मना।।
आविर्भावे तु कार्यं हि यथा मृदि घटादयः।।१५।।

श्लोकार्थ– तिरोभाव होने पर कार्य (घट आदि) कारण रूप में (मिट्टी रूप में) रहता है और आविर्भाव होने पर वह कार्य रूप में रहता है जैसे मिट्टी में घड़ा, अर्थात् घड़े का जिस समय तिरोभाव है उस समय वह घट (कार्य) कारण रूप (मिट्टी रूप) में रहता है और आविर्भाव के समय घट कार्य रूप में रहता है।।१५।।

तिरोभावे त्वित्यादि।।अत्रैवं ज्ञेयम्। तन्तुतुरीवेमादिभ्यः पटोत्पत्त्या, मृद्दण्डचक्रादिभ्यच्च घटोत्पत्त्या तस्य तस्य पटघटजनने शक्तिरिति निश्चीयते। सा च न स्वभावो, नापि स्वरूपम्। तथा सति तस्य सार्वदिकत्वाच्छीर्णेभ्यऽपि तन्त्वादिभ्यः पटाद्युत्पत्तिः स्यात्। भर्जिताद्

बीजादप्याकुरोत्पत्ति: स्यात्। प्रतिबन्धकमणिसमवधानेऽपि वह्नेस्तृणादिकं दह्येत। स्वभावस्यानपायात्। स्वरूपस्य च सत्त्वात्। अतः शीर्णतन्त्वादिषु कालेन, भज्रितेषु भर्जनेन च नाश्या, अग्नेर्मणिसन्निधाने प्रतिबध्या च काचित् स्वभावात् स्वरूपाच्चतिरिक्तैव शक्तिरङ्गीकार्या। ननु तन्त्वादीनामविशीर्णत्वेन बीजानामप्यऽभर्जितत्वेन रूपेणैव कार्यजननदर्शनात्तेनैव रूपेण कारणतेति नातिरिक्तशक्तिकल्पनं गुरूभूतम्। वह्निस्थलेऽपि प्रतिबन्धकमण्यभावेन निर्वाहाचेति चेन्न। दावदग्धक्षेत्रबीजेभ्यः कदलीकाण्डजननस्य भामत्यां प्रदर्शितत्वात् काचिच्छक्तिर्भर्जनेन नाश्यते, अपरा आधीयत इति मन्तव्यम्। वह्निस्थले प्रतिबन्धकमणिसमवधाने उत्तेजकेन मणिना दाहदर्शनादुत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावविशिष्टवह्नेरेव कारणत्वेऽतिगौरवम्। तथाहि मण्यभावत्वेन प्रवेशे। नानाकार्यकारणभावकल्पनाऽत्यन्तमेव गुर्वी। मन्त्रौषधादिनापि दाहाभावात्। एवमुत्तेजकानामपि नानात्वात्ततत्स्वरूपेण प्रवेशे ततोऽप्यत्यन्तगौरवम्। यत्किञ्चित्त्वेन प्रवेशो यावत्तदभावविशिष्ट मण्यभावविशिष्टस्याग्नेर्दाहं प्रत्यकारणत्वात्ततोदाहाभावापत्तिः। यावत्त्वेन प्रवेश यत्किञ्चद्वैशिष्ट्ये दाहाभावापत्तिः। यथाकथञ्चित्त्वेनप्रवेशेऽपिदृशकार्यकारणभावज्ञानस्यौत्तेजकत दभावतद्वैशिष्ट्यज्ञानाधीनतयातादृशगुरुशरीरकारणता स्वरूपज्ञानस्यैव दौर्घट्यमिति तदपेक्षया शक्तिकल्पनमेव ज्याय इति सर्वनिर्णयावरणभंगे श्रीपुरूषोत्तमचरणैर्विस्तरशो निरूपितमिति ततोऽवधेयम्। तस्मादाविर्भावतिरोभावयोः शक्तित्वम्। सा शक्तिमति भगद्रूपे घटे तिष्ठति। अत एव घटो भवतीति कर्तरि प्रयोगः। स्वमते सर्वेषां भगवद्रूपत्वात्। इच्छासहकारेण नित्ययोरप्या विर्भावतिरोभावयोर्न सदैवोदयः। विशेषस्तु विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तम्।।१५।।

व्याख्यार्थ – यहाँ इस तरह से समझिये कि सूत, तुरी, वेमा आदि से कपड़ा बनता है और मिट्टी, चाक, दण्ड आदि से घड़ा बनता है इसलिये उन–उन की कपड़े और घड़े के बनाने में शक्ति है ऐसा निश्चय होता है। वह शक्ति उनका न स्वभाव है और न उनका स्वरूप है। यदि उस शक्ति को उनका स्वभाव अथवा स्वरूप मान लिया जाय तो वह शक्ति सदा उनमें रहेगी तो शीर्ण तन्तु (सूत) आदि से भी कपड़े आदि की उत्पत्ति होनी चाहिये। भुने हुए बीज से भी अंकुर उत्पन्न होना चाहिये। अग्नि की दाहकता शक्ति की दाहकता शक्ति को रोकने वाली प्रतिबन्धक मणि के सान्निध्य में भी अग्नि घास आदि को जलाना चाहिये क्योंकि जलाने का उसका स्वभाव तथा स्वरूप है। स्वभाव कभी अलग नहीं होता और स्वरूप तो उस अग्नि में विद्यमान ही है। इसलिये शीर्ण तन्तु आदि में काल से, भुने हुए बीजों में भुन जाने से नाश के कारण, प्रतिबन्धक मणि की सन्निधि में प्रतिबन्धी के कारण एक कोई स्वभाव से और स्वरूप से अतिरिक्त ही शक्ति अंगीकार करनी चाहिये। यदि कहो कि काल, नाशी, प्रतिबन्धी शक्ति को अलग न मानकर तन्त्वादि में अविशीर्णत्व से और बीजों में अभर्जितत्व रूप से कार्यजनक न देखा गया है इसीलिये उसी रूप से इनमें कारणता मान ली जाय, अतिरिक्त शक्ति की कल्पना में गौरव होगा। इसी तरह अग्नि की दाहक शक्ति में भी प्रतिबन्धक मणि के अभाव से निर्वाह हो जायेगा इसलिये अलग शक्ति नहीं मानी जाय। ऐसा कहना उचित नहीं हैं। दावाग्नि के द्वारा जले हुए खेत के बीजों से केलों की उत्पत्ति होती है ऐसा भामती में कहा गया है भूंजने से कोई शक्ति नष्ट की जाती है और दूसरी शक्ति का उसमें आधान

किया जाता है ऐसा मानना चाहिये। अग्नि के स्थान में प्रतिबन्धक मणि के साथ ही उत्तेजक मणि के रख देने पर अग्नि में दाहकता देखी जाती है, अतः उत्तेजक भाव विशिष्ट मणि का अभाव ही अग्नि के दाह का कारण है ऐसा कहने में अति गौरव होता है। उक्त लक्षण में 'मण्यभावत्वेन' ऐसा प्रवेश करने पर अनेक कार्य कारण भाव की कल्पना करनी होगी जिससे बहुत गौरव होगा। मन्त्र अथवा औषधि से भी अग्नि में दाहकता का अभाव होता है। इसी तरह उत्तेजक भी अनेक हैं उनका उस–उस स्वरूप से प्रवेश किया जायेगा तो उससे भी अधिक गौरव हो जायेगा। यदि 'यत्किञ्चित्त्वेन' का प्रवेश किया जाय तो भी यावत् (जितनी भी) अभावविशिष्ट मणि हैं उनके अभावविशिष्ट मणि का अभावविशिष्ट मणि अग्नि के दाह के प्रति अकारण होने से उससे दाहाभाव की आपत्ति हो जायेगी। यदि इस आपत्ति को हटाने के लिये यावत्त्वेन का प्रवेश करेंगे तो यत्किञ्चिद्वैशिष्ट्य में दाहाभाव की आपत्ति हो जायेगी। इस आपत्ति को दूर करने के लिये यथा कथंचित्त्वेन का प्रवेश करेंगे तो भी उस प्रकार के कार्य कारण भाव का ज्ञान उत्तेजक उसका जो अभाव तद्वैशिष्ट्य ज्ञान के अधीन होने से उस प्रकार के गुरू शरीर कारणता स्वरूप की दुर्घटना होगी अतः उसकी अपेक्षा शक्ति की कल्पना कर लेनी ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार सर्व निर्णय प्रकरण के आवरण भंग में श्रीपुरूषोत्तमतजी ने विस्तार से निरूपण किया है अतः इसको वहां से समझना चाहिये। आविर्भाव तिरोभाव को शक्ति ही स्वीकार करना चाहिये। वह शक्ति शक्तिमान् घट में रहती है इसीलिये 'घट होता है' ऐसा कर्तरि प्रयोग होता है। अपने मत में तो सभी को भावद्रूप माना है। भगवान् की इच्छा

नित्य है उसके साथ रहने वाले आविर्भाव तिरोभाव भी नित्य है परन्तु जब भगवान् की इच्छा आविर्भाव की होगी तभी आविर्भाव होगा एवं तिरोभाव की जब इच्छा ही होगी तभी तिरोभाव होगा। अतः सर्वदा आविर्भाव तिरोभाव नहीं होंगे। इसका अधिक वर्णन विद्वन्मण्डन में प्रभु चरणों ने किया है॥१५॥

आविर्भावतिरोभावलक्षणमाहुः—

आभासार्थ – आविर्भाव तिरोभाव का लक्षण कहते हैं—

यदाऽनुभवयोग्यत्वं वर्त्तमानस्य वस्तुनः।।

आविर्भावः स विज्ञेयस्तिरोभावस्तोऽन्यथा॥१६॥

श्लोकार्थ – जब वर्तमान वस्तु की अनुभव योग्यता हो अर्थात् वर्तमान वस्तु जब अनुभव में आती है उसे आविर्भाव कहते हैं इसके विपरीत अर्थात् जब वर्तमान न होने पर जो वस्तु अनुभव में न आ सके उसे तिरोभाव कहते हैं।

यदेत्यादि।। योग्यतानिवेशेन दरीविवरांकुरेष्वपूर्वे च नाऽव्याप्तिः। शशशृंगादौ च नातिव्याप्तिः। वृद्धिविपरिणामादिष्वऽपि पूर्वरूपतिरोभावेन द्वितीयस्याविर्भावः। परिणामे रूपान्तरस्य। क्षये तु तिरोभावः।। अन्यथेति।। तदयोग्यत्वमित्यर्थः॥१६॥

व्याख्यार्थ – अनुभव योग्यत्व इसमें योग्यता शब्द को इसलिये रक्खा है कि गुफा के छेद में उत्पन्न होने वाले अंकुरो में लक्षण अव्याप्त न हो इसी तरह अपूर्व में भी लक्षण अव्याप्त न हो। इसी तरह शशशृंग (खरगोश के सींग) में अति व्याप्ति न हो इसके लिये है। वृद्धि में तथा विपरिणाम आदि में पहले रूप का तिरोभाव हो जाता है और द्वितीय रूप का आविर्भाव होता है इसी तरह

परिणाम में रूपान्तर का आविर्भाव होता है, क्षय में तो तिरोभाव होता है अन्यथा का अर्थ है अनुभव की योग्यता न रहना।।१६।।

नन्वनयोरङ्गीकारे प्रागभावादिसत्त्वे चातिगौरवमत आहुः–

आविर्भाव तिरोभाव को जब अलग से स्वीकार करते हो और प्रागभाव आदि अभावों की भी सत्ता है इसलिये अत्यन्त गौरव होगा अतः कहते हैं–

प्रागभावादयो नांगीकार्या आभ्यां यतोऽखिलम्।।
तद्विस्तरभिया नात्र लिख्यतेऽन्यत्र दृश्यताम्।।१७।।

श्लोकार्थ– हमारे यहाँ अंगीकार किये गये आविर्भाव तिरोभाव से ही सारा व्यवहार चल जायेगा इसलिये प्रागभाव आदि को स्वीकार नहीं करने चाहिये अधिक विस्तार के डर से उनका खण्डन यहाँ नहीं लिखा है अन्यत्र (आवरण भंग में) इसका खण्डन किया है वहाँ देख लें।।।१७।।

प्रागभावादय इति।। प्रागभावः प्रध्वांसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चत्येते नाङ्गीकार्याः। यत आभ्यामाविर्भावतिरोवाभ्याम् कया रीत्या सिद्धिस्तत्राहुः।।तदित्यादि।। अन्यत्र प्रागभावखण्डन – सर्वनिर्णयनिबन्धावरणभङ्गादिषु। तत्र प्रागभावः कारणावस्थातो नातिरिच्यते। तस्य भिन्नाकारणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। अग्रिमजननज्ञानेनैव तस्यानुभव इति श्रीमदाचार्य चरणैरुक्तं निबन्धे। नचेह कपाले घटौ नास्तीति प्रतीतिस्तत्र मानम्। तस्या घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयतया सामान्यत्वेन प्रागभावाख्यविशेषानवगाहित्वात्। एवं ध्वंसेऽपि दण्डादिस्वरूपमेव। तिरोभावशक्त्यतिरिक्तस्य ध्वंसस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। तेन

रूपान्तर पश्यन् पूर्वस्य तिरोभावमेव मन्यते, ध्वस्त इति श्रीमदाचार्यचरणैस्तत्रैव विनिरूपितम्। तिरोऽप्रकटं भावयति, तिरोभवनं वा तिरोभावः। उभयथाऽपि निमित्तोपादानान्यतरस्वरूपातिरिक्तोध्वंसो न निरूपयितुं शक्यः। तदरितिक्तस्यादर्शनात्। तथाच कार्यप्रतिकूला कारणावस्थैव ध्वंसइतितदर्थः। प्रागभावादिप्रयोगाश्च, घटस्यानन्यथासिद्धिनियतपश्चाद्भावित्वं दण्डस्य तादृशपूर्वभावित्वं चापेक्ष्य यथा घटदण्डयोः कार्यकारणप्रयोगस्तथा घटादेरग्रिमजननमाकारान्तरं चापेक्ष्य कारण एव प्रागभावध्वंसपदप्रयोगः। घटः पटो नेत्यन्योन्याभावप्रतीतावपि घटे मूलेच्छया पटादीनां तिरोभावः। एवं पटेघटादीनाम् यद्यपि सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मरूपत्वेन सर्वधर्मवत्त्वं, तथापि मत्स्याद्यवतारवज्जलाहरणकार्यार्थमेव घटब्रह्मण आविर्भावः। एवमावरणकार्यार्थमेव पटरूपब्रह्मणः। एतेनान्योन्याभावानङ्गीकारेघटेन पटकार्यं स्यादित्यादि निरस्तम्। भगवतस्तथेच्छातः सर्वमनवद्यम्। एवमत्यन्ताभावोऽपि तिरोभावेनैव गतार्थ इति दिक्।

अभावस्याधिकरणरूपत्वमित्यन्यत्र विस्तरः।।१७।।

व्याख्यार्थ – प्रागभावादि में आदि शब्द से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव लिये गये हैं इनको स्वीकार नहीं करना चाहिये। क्योंकि आविर्भाव तिरोभाव यहाँ स्वीकार किये हैं उनसे सब सिद्ध हो जायेगा। किस रीति से सिद्धि होगी उसके लिये बताया है तत्=वह, अन्यत्र=सर्व निर्णय निबन्ध के आवरण भंग आदि में इनका खण्डन हैं। इन चार प्रकार के अभावों में प्रागभाव तो कारणावस्था से अलग नहीं है अर्थात् प्रागभाव कार्य की कारणावस्था है। उस (कारणावस्था) से भिन्न कारण की

कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। आगे होने वाली उत्पत्ति के ज्ञान से प्रागभाव का अनुभव होता है ऐसा श्रीमदाचार्य चरणों ने निबन्ध में कहा है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि जिस समय घड़ा कपाल की अवस्था में उस समय कपाल में घड़ा नहीं है ऐसी प्रतीति प्रागभाव के स्वीकार करने में प्रमाण होगी। उस प्रतीति का सामान्य रूप से घटत्वावाच्छिन्न प्रतियोगिता का भाव विषयता होगी। प्रागभाव नाम से कही जाने वाली विशेषावगाहिनी प्रतीति नहीं होगी। अतः कपाले घटो नास्तीति यह प्रतीति प्रागभाव को सिद्ध नहीं कर सकती। इसी तरह प्रध्वंसाभाव भी दण्ड स्वरूप ही है तिरोभाव शक्ति के अतिरिक्त ध्वंस का निरूपण करना भी अशक्य होगा। इसलिये रूपान्तर को देखकर पहले का तिरोभाव ही माना जाता है इसका निरूपण भी श्रीमदाचार्य चरणों ने 'ध्वस्त इति' में किया हैं। तिरोभाव का अर्थ है अप्रकट करना अथवा अप्रकट होना। दोनों ही प्रकार से निमित्त अथवा उपादान कारण स्वरूप से अलग ध्वंस है ऐसा निरूपण करना अशक्य है। क्योंकि इन दोनों कारणों के अतिरिक्त ध्वंस देखा नहीं जाता। ध्वंस का अर्थ है कार्य के प्रतिकूल कारणावस्था। प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव का प्रयोग क्रमशः घट की अन्यथानियतपश्चाद्भावित्व की एवं अन्यथा नियतपूर्व भावित्व की अपेक्षा करके किया जाता हैं। जैसे दण्ड घट में कार्य कारण का प्रयोग होता है वैसे ही घट के अग्रिम उत्पत्ति अथवा आकारान्तर को लक्षित करके कारण में ही प्रागभाव और ध्वंस पद का प्रयोग होता है। घटः पटो न इस अनयोन्याभावप्रतीति मे भी घट मे मूल (भगवान्) की इच्छा से पट आदि का तिरोभाव है इसी प्रकार पट मे घट आदि का। यद्यपि सब पदार्थ ब्रह्म रूप होने से सकल धर्म वाले हैं तथापि जैसे अन्य

सब धर्मो का तिरोभाव करकेमत्स्यावतार मे केवल मत्स्य धर्म का ही आविर्भाव किया है उसी तरह जल लाने रूप कार्य के लिये ही घट ब्रह्म का आविर्भाव हुआ है, इसी तरह आवरण अर्थात् शरीर आदि को ढकने के लिये ही पट ब्रह्म का आविर्भाव है इससे जो ऐसा कहते थे कि अन्योन्याभाव न मानने पर घड़े से कपड़े का कार्य होने लगेगा यह निरस्त हो गया। भगवान् की वैसी ही इच्छा है ऐसा स्वीकार करने पर सब निर्दोष हो जाता है। इसी तरह अत्यन्ताभाव भी तिरोभाव गतार्थ हो जाता है। अभाव अधिकरण रूप है ऐसा भी अन्यत्र विस्तार है।।।१७।।

एवं प्रपञ्चस्य सत्यत्वमुपपाद्य तत्प्रसंगेनाविर्भावतिरोभावौ निरूप्य प्रस्तुतं कार्यस्य कारणस्य अधिकरणस्य करणस्य अपादानस्य सम्बन्धस्य सम्प्रदानस्य कर्मणः कर्त्तुः प्रकारस्य ब्रह्मरूपत्वमेवेति श्रीभागवत–पद्येनाहुः–

आभासार्थ– इस प्रकार प्रपञ्च (जगत) सत्य है यह बताया उसी प्रसंग में आविर्भाव तिरोभाव का भी निरूपण किया अब प्रस्तुत कार्य, कारण, अधिकरण, करण, अपादान, सम्बन्ध, सम्प्रदान, कर्म, कर्त्ता प्रकार ये सब ब्रह्म रूप ही है यह श्रीभागवत के पद्य से कहते हैं –

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।।१८।।
इति भागवते पद्येसर्वस्य ब्रह्मता श्रुता।।
श्रुतिसूत्रैः स्मृतिगणैर्दृष्टिः स्वर्णार्थिनो यथा।।१६।।
सुवर्णस्य च ये खण्डाः कटका मुद्रिकादयः।।
सुवर्णत्वेन गृह्णाति तथा ब्रह्मविदो मतिः।।२०।।

श्लोकार्थ – यत्र=अधिकरण कारक, येन=करण कारक, यतः=अपादान कारक यस्य=सम्बन्ध कारक, यस्मै=सम्प्रदान कारक यत्=कर्त्ता कारक, यत्=कर्म कारक, यथा=प्रकार, यदा=काल ये सब साक्षात् प्रधान पुरूषेश्वर भगवान् ही है इस भागवत के पद्य में सब की ब्रह्मरूपता सुनी जाती है और श्रुति ब्रह्म सूत्र स्मृतियों से भी सब की ब्रह्म रूपता जानी जाती है जैसे सुवर्ण के टुकडे, कडे, मुद्रिका आदि को सुवर्ण रूप से ही ग्रहण करते है ब्रह्म ज्ञानी की बुद्धि भी सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म रूप से ही ग्रहण करती है।।१८-२०।।

यत्रेत्यादि।। यदेति।। कालार्थक – दा प्रत्ययेन कालस्यापि ब्रह्मत्वमुक्तम्। अत एव, कालोऽस्मीति श्रीभगवद्वाक्यम्। एतेन अस्मम्मते न द्वैतलेशः। एतेनोपादानत्वे निमित्तत्वानुपपतिस्तत्त्वे चोपादानस्येति परास्तम्। सर्वभवनसमर्थत्वाद् ब्रह्मणः। विरूद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणो लक्षणत्वात्। तच्च प्रागेव निरूपितम्।।१८।।

इतीत्यादि।। श्रुतयः, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादयः। एवञ्चात्माकात्स्र्न्यमित्यादिसूत्राणि। भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरिति विष्णुपुराणे। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ इति गीतायाम्।।६।।

दृष्टान्तमुपपादयन्ति –

सुवर्णस्येत्यादि।। यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु • एवं वचोभिर्भगवानधोऽक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैजनैरिति श्रीभागवताष्टमस्कन्धवाक्यात्। यथा सुवर्ण सुकृतं पुरूस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य • तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वद् इति तस्यैव एकादशस्कन्धवाक्याच्चेति भावः ।।२०।।

व्याख्यार्थ – यदा में दो प्रत्यय काल अर्थ में हुआ है इसलिये काल की भी ब्रह्म रूपता कही है इसी लिये तो भगवान् ने गीता में 'कालोऽस्मि' अपने को काल रूप बताया है अतः हमारे मत में द्वैत का लेश भी नहीं है जो ऐसा कहते थे कि ब्रह्म को उपादान कारण मानोगे तो निमित्त कारण नहीं हो सकता और निमित्त कारण मानोगे तो उपादान कारण नहीं हो सकता, यह कथन इससे निरस्त हो गया। क्योंकि ब्रह्म में सब कुछ बनने का सामर्थ्य है ब्रह्म का लक्षण ही 'विरुद्ध धर्माश्रयत्वं ब्रह्मत्वम्' जो विरुद्ध धर्माश्रय है वही ब्रह्म है इसका निरूपण पहले ही किया जा चुका है। श्रुति शब्द से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ली जाती हैं और सूत्रों में 'आत्मा कात्स्न्र्यम्' इत्यादि लिये जाते हैं 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' यह विष्णु पुराण और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह गीता भी इसमे प्रमाण है। दृष्टान्त से इस बात का उपपादन करते हैं। जैसे व्यवहार में स्वर्ण अनेकों रूपों में मनुष्यों से क्रियाओं के द्वारा तैयार किया जाता है उसी तरह अधोक्षज (इन्द्रियातीत) भगवान् का वर्णन मनुष्यों से लौलिक तथा वैदिक वाणी के द्वारा किया जाता है वह भागवत के अष्टम स्कन्ध में आया है इसी तरह एकादश स्कन्ध में आया है कि 'सोने के अनेक आभूषण बनते हैं परन्तु जिस समय वे आभूषण नहीं बने थे उस समय भी सोना था और जब आभूषण नहीं रहेंगे तब भी सोना रहेगा इसलिये जब बीच में उसी स्वर्ण के कटक कुण्डल आदि नाम रखकर व्यवहार करते हैं उस समय भी वह सोना है इसी तरह जगत् के आदि अन्त और मध्य में मैं ही हूँ'।।१८-१९-२०।।

तत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति –

आभासार्थ – इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं–

यथा सौम्येत्यादिश्रुतौ स्पष्टमेव निरूपितम्।।
तथा तत्त्वमसीत्यत्राभेदोंऽशांशिविचारतः।।२१।।

श्लोकार्थ – यथा सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति' इत्यादि श्रुति में स्पष्ट ही प्रपञ्च ब्रह्म स्वरूप है ऐसा निरूपण है उसी तरह तत्त्वमसि' इसमें अंश और अंशी के विचार से अभेद है।।२१।।

यथेत्यादि।। यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवतीत्यादिश्रुतौ यथा मृतदवयवयोरभेदस्यस्था तत्त्वमसीत्यत्राभेदोंऽशांशिनोरभेदादित्यर्थः।।

अत्र सर्वेषां मतसंग्रहश्लोक :–

केचित्तत्त्वमसीतिवाक्यविषये तत्त्वम्पदे लक्षणां।
केचित्त्रङ.सो लुकं विदधते भाष्यं तु केचिज्जगुः।।
केचिच्चिद्विष्यादभेदमपरे छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं।
सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा।।१।।

अस्यार्थस्तु – केचिच्छङ्कराचार्याः, तच्छब्देन सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं ब्रह्म, त्वंशब्देनाल्पज्ञत्वादि विशिष्टो जीवस्तयोरभेदो न सम्भवतीति भागयोः सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोस्त्यागे केवलचिदंशमात्रग्रहणेनाभेदः। सोऽयं देवदत्त इतिवद्भागत्यागलक्षणां विदधते। केचिद् रामानुजमाध्वशैवाः, तत्त्वमित्यत्र, सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजाल इति सूत्रेण ङ.सो लुकं विदधते। तस्य त्वमसि तत्सम्बन्ध्यसि। सम्बन्धश्च सेव्यसेवकभावः केचिद् रामानुजादिमतव्याख्यातारो

भाष्यं व्याकरणभाष्यं प्रातिपदिकनिर्देशे यां यां विभक्तिं बुद्धिरूपजायते सा सा आश्रयितव्येत्यचः परस्मिन्निति सूत्रे। तदिति प्रातिपदिकम्। तेन षष्ठीविभक्तेराश्रयणम्। अर्थः पूर्ववत्। केचिन्निम्बार्काश्चिद्विषयाच्चित्त्वसाधर्म्याद अभेदः केचिन्माध्वेकदेशिनः, अतत्त्वमसीति पदं छिन्दन्ति। तत्रार्थस्तु, तद् ब्रह्म त्वं नासि, किं तर्हि, जीवोऽसीत्यर्थः। सिद्धान्ते ब्रह्मवादिसिद्धान्ते। सुवर्णस्यांशाः सुवर्णरूपास्तथा ब्रह्मांश जगद् ब्रह्मैव, तथा जीवोऽपि चिदंशो ब्रह्मानेन वाक्येन बोध्यत इत्यर्थः।।१।।

एवमुक्तानां खण्डनसंग्रहश्लोक :–
तत्रोपक्रमसङ्ग तिर्बहुविधा भग्ना प्रतिज्ञाश्रुति –
र्भक्तिः स्याद्यदि, न त्वमेव कथयेद्भेदे च नो तुल्यता।।
साधर्म्येऽपि तु भेद एव रसितश्छेदो न सम्यग्यतः
सिद्धान्तः श्रुतिसंमतो विलसति प्राज्ञैर्विचार्य मुहुः।।२।।

एतदर्थस्तु – शङ्कराचार्यादिव्याख्यानेषु उपक्रमस्य सङ्ग. तिर्बहुप्रकारेण भग्ना स्यात्। तथाहि। तत्त्वमसीतिवाक्यं श्वेतकेतूपाख्यानेऽस्ति। तत्रोपक्रमे, अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्यादिना एकविज्ञाने सर्वविज्ञानम् प्रतिज्ञातं। तदेकमेव चेत् सर्वं भवेत् तदोपपद्यते। यथा सुवर्णकार्य सुवर्णखण्डाः सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञानेन तज्ज्ञानम्भवति। तदर्थं, सदैव सौम्येत्यारभ्य निरूपितम्। ततो जडस्य सर्वस्याऽपि सदात्मकत्वार्थम् ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्तदं सर्वमित्युक्तम् तर्हि जडगताऽसत्यत्वादिदोषस्तत्परिहारार्थमाह। तत्सत्यमिति। तेनाविर्भावतिरोभावौ पदार्थानां ज्ञेयौ। पूर्वोत्तरयोर्जडजीवयोः सदात्मकत्वे हेतुमाह। स आत्मेति। एवं जडस्य ब्रह्मात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्याप्याह।

तत्त्वमसीति। उपदेशश्चाऽयम्। आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति ब्रह्मसूत्रात् अतः सम्पूर्णमहावाक्यामुपदेशः। तत्र यथा ऐतदात्म्यमिति संदेशे न भागत्यागलक्षणा, तथोत्तरत्रापि चिदंशे न भागत्यागलक्षणा। नाऽपि श्वेतकेतुरवतारः, पूर्वं स्तब्धात्वादिदोषकीर्तनात् अतो ब्रह्मवाक्यत्वात्तदेकदेशस्तत्त्व मसीति केवलं जीवब्रह्मणोरैक्यं न बोधयति, वाक्यभेदेप्रसङ्गाद् उपक्रमविरोधाच्चेति सर्वं श्रीमदाचार्यचरणैरूक्तम्। एवञ्च।

उपक्रमोपसंहारे योऽर्थस्तु प्रतिपद्यते।

स एवोत्तारपक्षः स्यात् पूर्वपक्षस्ततोऽन्यथा, इत्यभियुक्तिक्तेरूपक्रमविरोधेन लक्षणा नांगीकार्येत्यर्थः। भेदवादिनां मते सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा भंगो, जगतो भिन्नत्वात् न हि सुवर्णज्ञाने मृद्विकारा ज्ञायन्ते। किंन्तु सुवर्णविकारा एवावास्तविकभेदाभेदवादिनां मते भेदज्ञानस्य वास्तवत्वेन तेषां भेदवादिवदुपक्रम विरोधः, प्रतिज्ञाहानिश्च। किञ्च भक्तिर्लक्षणा यदि स्यात् तर्हि त्वंशब्दवाच्यस्य पिण्डस्य ब्रह्मत्वमिष्टं न स्यात्तर्हि, न त्वमसीत्येव ब्रूयात्। त्वमल्पगुणोपाधिको ब्रह्म नासीत्यर्थः। कथयतित्वेवं, तस्माल्लक्षणा नाभिमता। भेदे च तस्य त्वमसीति व्याख्याने भेद एव स्थितः। तथाच जीवस्य भिन्नत्वात् कस्यचित् सुखं कस्यचिद् दुःखमिति ब्रह्मणि वैषम्यमित्यर्थः। एतच्चाग्रे वक्ष्यन्ति। भेदाभेदवादिमते चित्त्वसाधर्म्येणा भेदस्तथाच भेद एव, रसितः पर्यवसित इत्यर्थः एवञ्च भेदादिवत्तेषामपि मते दोषः। अतत्त्वमसीति च्छेदस्तु न वैदिकसंमत इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्न सम्यक्। तस्मिन् पक्षे, अतत् ब्रह्म त्वं नासीत्यर्थे, जीवोऽसीति पर्यवसिते जीवस्य स्वतः सिद्धत्वेन ब्रह्मत्वस्याऽप्राप्त्या च तादृशपदच्छेदो न सम्यगित्यर्थः।

अतः पूर्वश्लोके, छिन्दन्त्यतत्वं पदमित्युक्तम्। तत्रातत्त्वम्। अवैदिकसंमतं पदं छिन्दन्तीत्यपि श्लोकार्थः। सिद्धान्तः शुद्धाऽद्वैतसिद्धान्तः। श्रुतिसंमत उपक्रमोपसंहार श्रुतिसंमत इति प्राज्ञैः पण्डितैर्विचार्यमित्यर्थः।।२१।।

व्याख्यार्थ – हे सौम्य एक मिट्टी के ढेले को देखने से मिट्टी के बने हुए घट शराव आदि का ज्ञान हो जाता है जैसे मिट्टी और उसके अवयवों में अभेद है उसी तरह तत्त्वमसि यहाँ भी अंश और अंशी का अभेद है। यहाँ सब मतों के संग्रह का एक श्लोक है –

केचित्तत्त्वमसीति वाक्य विषये तत्त्वम्पदे लक्षणं
केचित्तत्र ङ.सो लुकं विदधते भाष्यं तु केचिज्जगुः।
केचिच्चिद्विषयादभेदमपरे छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं –
सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा।।१।।

इसका अर्थ – केचित् अर्थात् शंकराचार्य 'तत्' शब्द से सर्वज्ञत्व आदि विशेषों से युक्त को लेते हैं 'त्वं' शब्द से अल्पज्ञता आदि धर्म वाले जीव को लेते हैं, इन दोनों का अभेद हो नहीं सकता इसलिये यहाँ भागत्याग लक्षणा मानते हैं अर्थात् ईश्वर में रहने वाला जो सर्वज्ञत्व आदि भाग है उसका परित्याग कर दिया, इसी तरह जीव का अल्पज्ञत्वादि भाग का परित्याग कर दिया केवल चित् (चैतन्य) अंश मात्र का ग्रहण किया जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' दो व्यक्तियों ने काशी में छोटी आयु में देवदत्त को देखा था बहुत समय के बाद अन्यत्र उनको वह देवदत्त दिखाई दिया उस समय उसके दाढ़ी मूँछ आ गई थी, शरीर, से भी मोटा हो गया था, पहचानने में नहीं आया तब एक व्यक्ति ने उसे ध्यान से देखा तो वह दूसरे व्यक्ति

से बोला – अरे! 'सोऽयं देवदत्त है जिसे काशी में देखा था। तब द्वितीय ने समझा अरे हाँ वही है यहाँ पर जैसे दुबले पन मोटे पन बचपन यौवन के भागों का त्याग करके ही जैसे काशी के और अन्यत्र के देवदत्त में समानता आती है उसी तरह यहाँ भी 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' ब्रह्म का सर्वज्ञता आदि भाग छोड़ दिया और जीव का अल्पज्ञत्वादि भाग छोड़ दिया केवल चिदंश ले लिया तब यह कहा गया कि 'हे श्वतेकेतु वह ब्रह्म तू हैं'।

रामानुज, माध्व और शैव –'तत्त्वम्' यहाँ पर तत् शब्द के आगे ड.स् (षष्ठी का एक वचन) प्रत्यय मानते है और उसका सुपां सुलुक् पूर्व सवर्णाच्छेयाडाड्याजाल:' इस सूत्र से लुक् (लोप) करते है और 'तत्त्वम्' का अर्थ करते हैं।

उस ब्रह्म का सम्बन्धी तू हैं। षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध में होती है यहाँ षष्ठी का अर्थ सेव्य सेवक भाव सम्बन्ध है अर्थात् ब्रह्म सेव्य है और जीव उसका सेवक है, अतः 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' का अर्थ हुआ हे श्वेतकेतु ! तू उस ब्रह्म का सेवक है, वह ब्रह्म तेरा सेव्य है उक्त–रामानुज आदि मत के व्याख्याताओं ने 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इस सूत्र के व्याकरण भाष्य में 'प्रातिपदिकनिर्देशे यां यां विभक्तिं बुद्धिरूपजायते सा सा आश्रयितव्या' इसके प्रमाण से तत् यह प्रातिपदिक और उससे षष्ठी विभक्ति का आश्रयण किया अर्थ तो पूर्ववत् ही है।

निम्बार्क चिद्विषय से चित्त्वसाधर्म्य से जीव और ब्रह्म में अभेद है ऐसा इसका अर्थ मानते हैं।

कुछ माध्व के एकदेशी 'तत्त्वमसि' ऐसा न रखकर 'अतत्त्वमसि'

ऐसा पदच्छेद करते हैं। इसका अर्थ होता है 'वह ब्रह्म तू नहीं है तब तू क्या है ? तू जीव है' सिद्धान्त में अर्थात् ब्रह्मवादि सिद्धान्त में जैसे सोने के अंश सुवर्ण रूप हैं उसी तरह ब्रह्म का अंश जगत् भी ब्रह्म है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म का चित् अंश है यह 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से बोधित होता है।

उक्त मतों के खण्डन का संग्रह श्लोक –
तत्रोपक्रम संगतिर्बहुविधा भग्ना प्रतिज्ञाश्रुति–
र्भक्तिः स्याद्यदि न त्वमेव कथयेद्भेदे च नो तुल्यता।
साधर्म्येपि तु भेद एव रसितश्छेदो न सम्यग्यतः
सिद्धान्तः श्रुतिसंमतो विलसति प्राज्ञैर्विचार्य मुहुः ॥२॥

इसका अर्थ– शंकराचार्य आदि के व्याख्यानों में उपक्रम की संगति बहुधा भिन्न होगी। जैसे 'तत्त्वमसि' यह वाक्य श्वेतकेतु के उपाख्यान में है वहाँ उपक्रम में कहा है कि तैने वह आदेश (अपने आचार्य से) पूछा हैं जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत होता है, नहीं समझा हुआ समझ में आजाय नहीं जाना हुआ जानने में आ जाय इत्यादि। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की वह तब हो सकती है कि सब एक ही है। जैसे सुवर्ण के कार्य (गहने) सुवर्ण के टुकड़े सब सुवर्ण है इसलिये सुवर्ण को जान लेने से उन सब का ज्ञान हो जायगा। इसी के लिये 'सदैव सौम्य' यहाँ से आरंभ करके निरूपण किया है तदनन्तर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' सब जड़ सत् स्वरूप है फिर जड़ पदार्थो मे असत्यत्व दोष आयेगा उसके निवारण के लिये 'तत्सत्यम्' वह सब सत्य है। अतः पदार्थो में आविर्भाव तिरोभाव ही मानने चाहिये नहीं तो 'तत्सत्यम्' की संगति कैसे होगी ? जड़ और जीव दोनों सदात्मक हैं इस में हेतु

हैं 'स आत्मा' इस प्रकार जड़ की ब्रह्मता बताकर जीव की ब्रह्मता बताने के लिये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यह कहा। यह उपदेश है 'आवृत्ति रस कृद्दूपदेशात्' उपदेश की आवृत्ति बार–बार होती है इस ब्रह्म सूत्र से यह सम्पूर्णमहावाक्य ही उपदेश है उस महा वाक्य में जैसे 'ऐतदात्म्यम्' इस सन्देश में भागत्याग लक्षणा नहीं की उसी तरह 'तत्त्वमसि' इस चिदंश में भी भागत्याग लक्षणा नहीं होगी। श्वेतकेतु अवतार भी नहीं है क्योंकि पहले उसमें मूर्खता आदि दोष कहे हैं अतः ब्रह्म वाक्य होने से उसका एक देश 'तत्त्वमसि' यह केवल जीव ब्रह्म का ऐक्य बोधन नहीं करता ऐसा मानने पर वाक्य भेद का प्रसंग होगा और उपक्रम का भी विरोध होगा, ऐसा सब श्री आचार्य चरणों ने कहा है इसी तरह 'उपक्रम' में और उपसंहार में जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है वह ही उत्तर पक्ष होता है अन्यथा पूर्व पक्ष होता है।

'उपक्रमोपसंहारे योऽर्थस्तु प्रतिपद्यते।
स एवोत्तरपक्षः स्यात् पूर्वपक्षस्ततोऽन्यथा।।

ऐसा प्राचीनों का मत है अतः लक्षणा स्वीकार नहीं करनी चाहिये। भेद वादियों के मत में सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का भंग होगा क्योंकि ये जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। सुवर्ण जान लेने से मिट्टी के विकार घड़े सिकोरे आदि नहीं जाने जाते किन्तु सुवर्ण के विकार ही जाने जायेंगे। वास्तविक भेदाभेद वादियों के मत में भेद ज्ञान वास्तविक हैं अतः उनके मत में भेदवादियों की तरह ही उपक्रम विरोध और प्रतिज्ञा हानि होगी। और यदि भागत्याग लक्षणा हो तो त्वं शब्द वाच्य पिण्ड की ब्रह्मता यदि इष्ट नहीं है तो 'तत्वमसि' ऐसा ही बोल देते हैं जिसका अर्थ होता अल्पगुणोपाधि होने से तू ब्रह्म नहीं है कहते

तो ऐसा ही हैं अतः लक्षणा अभिमत नहीं है। भेद में तो 'उसका तू है' इस व्याख्यान में तो भेद है ही जब जीव ब्रह्म से भिन्न है तो किसी जीव को सुख और किसी को दुःख होने से ब्रह्म में विषमता होगी यह आगे कहा जायेगा। भेदाभेदवादियों के मत में चैतन्य रूप समान धर्म से अभेद है वैसे तो भेद ही है। रसित का अर्थ है पर्यवसित अर्थात् भेदाभेदवादियों में अस्तम् भेद ही होता है इस तरह भेदवादियों की तरह उनमें भी दोष है। 'अतत्त्वमसि' ऐसा पदच्छेद तो वैदिक संमत नहीं ऐसा श्रीमदाचार्य चरणों ने कहा है इसलिये यह ठीक नहीं। उस पक्ष में वह ब्रह्म तू नहीं है इस अर्थ में 'तू जीव है' यह सिद्ध होता है तो जीव तो स्वतः सिद्ध है उसमें ब्रह्मता तो प्राप्त होती नहीं फिर वैसा पदच्छेद करना ठीक नहीं। अतः पहले के श्लोक में 'छिन्दन्त्यत्वं पदम्' ऐसा कहा उसमें अतत्वं यह अवैदिक संमत पदच्छेद है ऐसा श्लोकार्थ है सिद्धान्त अर्थात् शुद्धाऽद्वैत सिद्धान्त श्रुति संमतः=उपक्रम उपसंहार श्रुति से सम्मत है यह समझदार पण्डितों को विचारना चाहिये।।२१।।

एवमद्वैतपदार्थं निरूप्य शुद्धपदव्यावर्त्त्यमाहुः–

आभासार्थ– इस प्रकार अद्वैत पदार्थ का निरूपण करके अब शुद्ध पद का व्यावर्त्य कहते है अर्थात् जैसे काला घोड़ा इसमें आये हुए काले शब्द का व्यावर्त्य श्वेत नीला आदि है उस तरह यहाँ व्यावर्त्य क्या है।

अत्रैव शाङ्कराः प्राहुर्मायिकं नश्वरं जगत्।।
मायासम्बन्धतो ब्रह्म कारणं नान्यथैव हि।।२२।।

श्लोकार्थ – यहाँ कार्य कारण के विचार में शांकर जगत् को मायिक (असत्य) और नश्वर मानते है और ब्रह्म भी माया के

सम्बन्ध से ही जगत् का कारण है अन्यथा ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता॥२२॥

अत्रैवेत्यादि।। कार्यकारणविचारे। शङ्करा एव शाङ्कराः। स्वार्थेऽण्। ईदृशं घटपटाद्यात्मकं जगन्मायिकमतो नश्वरं नाशशालि। एषां मते प्रपञ्चस्य मायिकत्वेन तस्य कारणेन तादृशेनैव भवितव्यम्। कारणसजातीयत्वात् कार्यस्य। तच्चाज्ञानमेव कारणम्। ब्रह्मणस्तु निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अथात आदेशो नेति नेतीत्यादिश्रुतिभ्यः। इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते, यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत इत्यादिश्रुतिभ्यो निराकारत्वमकर्त्तत्वमुपास्यस्याब्रह्मत्वम्। किञ्च यद्यत् कर्त्तृतत्तत् सधर्मकम् यद्यत् साकृति तत्तन्ननश्वरमित्यनुमानत आकारस्य नश्वरत्वेन च ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः। अज्ञानं चाऽहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धम्। तस्य नामान्तरं माया चाविद्येति। सा विचित्रपरिणामशीला। तया विचित्रं जगत् प्रतीयते। शुद्धसत्वप्रधाना माया। मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्येति भेदः। तत्र यथा जलदप्रणादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बस्तद्वन्मायाविद्याब्रह्मप्रतिबिम्बतयेशजीवव्यवहारः। यथावाऽऽकाशस्य वृक्षवनादिना परिच्छदप्रतीतौ वृक्षवनाऽऽकाशादिव्यवहारस्तथा अविद्यामायासम्बन्धोन जीवेशादिव्यवहारः। यथा वांगुलिसम्पर्कदिना द्विचन्द्रादिप्रतीतिस्तथा मायासम्बन्धतो जीवेशादिप्रतीतिः। अत एव, आभास एव चेति सूत्रेण व्यासैर्जीवस्याभासत्वमुक्तम्। यथा रज्जौ सर्पाभासस्तथा ब्रह्मणि जीवाभास इति। अत एव, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतौ वाचैवारभ्यते विकारो घटादिर्नवस्तुतः सदित्यर्थः। यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः • नश्वरं गृह्यमाणं च

विद्धि मायामनोमयम् इति श्रीभगद्वाक्येनापि मायिकत्वेन नश्वरत्वसिद्धेरतो भ्रान्त्यैव जगत्प्रतीतिरतो ब्रह्मण्यपि कर्त्तृत्वादिंक भ्रान्तिरेव।।

ननु विश्वतश्चक्षुः, सहस्त्रशीर्षा, सम्बाहुभ्यां धमति, प्रज्ञानघनः, विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता, जन्माद्यस्य यतः, कर्त्ता कारयिता हरिः, अहं सर्वस्य प्रभव इत्यादि श्रुतिसूत्रस्मृतिभिः साकारत्वं कर्तृत्वं च सिद्धित्वादिति चेन्न। शुद्धब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेन शाखारून्धतीन्यायेनोपासनार्थं सधर्मकत्वं ब्रह्मण्यारोप्य पश्चान्निषेधकतया कर्त्तृत्वाद्यपेतं ब्रह्म बोधयति। उपासनया हि चित्तशुद्धौ सत्यामद्वैतस्फूर्त्त्याऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मैव भवतीति तेषां मतम्। तन्न यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्याचक्षते। तत्सत्यम्। सर्वं खल्वित्यादि। तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराऽखिलमित्या-दिवाक्यादुक्तावाक्यैश्च जगतः सत्यत्वं ब्रह्मत्वं चोक्तमिति जगतो मायिकत्वे मानाभावात्। प्रत्यक्षैकादशशाखासु च मिथ्यात्वकथनाभावात्। कार्यकारणयोः साजात्याद् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं यतो वेत्यादि, जन्माद्यस्येत्यादिवाक्यैः प्रतिपादितम्। असतोऽज्ञानस्य कारणत्वाभावात्। नचासतः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकत्वेन कारणत्वमिति वाच्यम्। जागरितदशायां दृष्टश्रुतस्य मननसम्बन्धेन स्वप्नदर्शनादतः सत एव कारणत्वम् अन्यथा स्वाप्निकभोजनाद् वास्तविकी तृप्तिः स्यात्। निष्कल मित्यादिश्रुतौ लौकिकक्रियाकलासत्त्वादि गुणजन्यशरीरविकारीन्द्रियजडधर्मनिषेधपरत्वेन कथनात्। सामान्यनिषेधो तु एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीतिकलाया, असीनो दूरं व्रजतीत्यादौ क्रियाया, एको

देवः सर्वभूतेषु गूढ इत्यादिगुणानाम्, अपाणिपादो जवनो ग्रहीतेति, उताऽमृतत्वस्येशान इत्युक्त्वा सर्वतः पाणिपादकथनादन्यथा शरीरस्याविकारीन्द्रियाणाम्, अणोरणीयान् महतो महीयानित्यादावणुत्वादिबोधकानां विरोधापत्तेः। अथात इत्यत्रेति शब्दः प्रकारवाची। तेन लौकिकप्रकारकं न भवतीत्यर्थः। व्यासचरणैः, प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय इति सूत्रं पठितम् तत्र निषेधवाक्यैरेतावत्त्वस्थूलत्वादिकं प्रकृतं लौकिकं प्रतिषेधति, न तु ब्रह्मधर्मान् ततो ब्रवीति च भूय इति। यत्र वाक्ये प्रकरणे वा निषेधति तत्रैव पुनस्तद्धर्ममाह श्रुतिः। अस्थूलाद्युत्क्वा, एतस्यैवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावाभूमि विधृते तिष्ठत इतीत्यर्थः। यदीदं सूत्रं मूर्त्तामूर्त्तनिषेधपर तर्हि प्रकृतैतावत्पदयोरन्यतरवैयर्थ्यापातः। अथवा प्रकृते ब्रह्मणि यदेतावत्त्वं, तत् प्रतिषेधतीति। इन्द्रो मायाभिरिति तु–

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव यत्तस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इति मन्त्रः। तत्र माया ज्ञानं प्रतिकरणं, न तु ब्रह्मणो बहुस्वरूपत्वे। अन्यथा पूर्वार्द्ध एव मायाभिः पुरुरूपो बभूवेति वदेत्।।

यद् वाचेत्सस्यार्थस्तु, यद् वागाद्यगम्यं तत् प्रेरयितृ ब्रह्म विद्धि नेदं वागादि। तर्हि कथं तस्य ज्ञानम् ? तत्राह ? यदिदं श्रुतिप्रसिद्धम् उपासते, वैदिका इति शेषः। यद्युपास्यस्य अब्रह्मत्वमभिप्रेयात् पुनरिदङ्कारं न ब्रूयात्। नेदं यदुपासत इत्येतावतैव सिद्धेः। यद्यत् साकृति तत्तन्नश्वरमित्यनुमाने तु जन्यत्वात् प्रकृतत्वाद्वेति हेतोरवश्यं वाच्यत्वेनेश्वरे तदभावात् अज्ञान चेत्यादिकथनं त्वपेशलम्। तदज्ञानं ब्रह्मणि जीवे वा आद्ये ब्रह्मण आधार त्वापत्तौ सविशेषत्वापत्तिः।

अज्ञानित्वापत्तिश्च। जीवस्य त्वज्ञानरूपत्वमेवेति। न द्वितीयः। जलादौ स्वच्छाधारे रूपवत्प्रतिबिम्बदर्शनेन मायाया मलिनत्वेन मिथ्यात्वेन ब्रह्मणश्चारूपत्वेन प्रतिबिम्बासम्भवः। अन्यथा वायो रपि काष्ठे स्यादित्यादि विद्वन्मण्डने बहुशो निरूपितम्। आकाशस्य तु न प्रतिबिम्बः, किन्तु प्रभामण्डलस्य। किञ्च, पञ्चीकरणप्रक्रिययाकाशे पृथिव्यंशसत्त्वेन रूपवत्तया प्रतिबिम्बत्वोपपत्तेः। वायौ त्वनुद्भूतरूपवत्त्वेन रूपवत्त्वा प्रतीतेः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति दृष्टान्त एकस्य नानात्वे, न तु प्रतिबिम्बत्वे किञ्च। प्रतिबिम्बपक्षे ब्रह्मणो बिम्बत्वापत्तौ सविशेषत्वापत्तेः। आभास एव चेति सूत्रं त्वनाचारिब्राह्मणे यथा ब्राह्मणाभास्तथा तिरोहिता नन्दांशे ब्रह्मभास इतिबोधकम्। रज्जुसर्पदृष्टान्तोऽपि न सम्भवति। अन्यत्र वास्तविकदृष्टसर्पस्य दृष्ये रज्जौ तृतीयस्य द्रष्टुः सर्पाभासः। अत्र जगतो वास्तविकस्याभावाद्ब्रह्मणश्चादृश्यत्वेन द्रष्टुश्चाभावेनवैषम्यात् किञ्च, घटपटाद्यात्मनाभासे यथा रज्जौ नाऽश्वाकाराभासः, किन्तु सर्पाभास एव तत्सादृश्यात्। एवं ब्रह्मण्यपि तादृश्यत्वापत्तौ साकारत्वापत्तिः। गन्धर्वनगरादिष्वपि वायुसम्बन्धेन जायमानत्वेनात्रान्यस्याभावान्नात्र दृष्टान्तसम्भवः। वाचारम्भणवाक्यं तु ब्रह्माभिन्नत्वबोधकमित्यग्रे वक्ष्यते। यदिदमिति श्लोके तु चक्षुरादिभिर्नश्वरं गृह्ममाणं यत् तन्मायामनोमय विद्धीत्यन्वयेन स्वाप्निकस्यैव नष्वरत्वेन तस्यैव मायिकत्वात्। अत एव, मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वादिति व्यासपादैः स्वाप्निकप्रपञ्चस्य मायिकत्वमुक्तम्। अत एव च, वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदित्यनेन जगतः स्वप्नादिवत्त्वनिषेधेन जगतो मायिकत्वाभाव उक्तः।।

श्रीप्रभुचरणैस्तु, यदिदं यादवकुलं चक्षुरादिभिर्गृह्यमाणं तन्मायिकं नश्वरं विद्धि। विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनामिति प्रश्नोत्तरप्रकरणे

निरूपितत्वादित्युक्तम्। अतो न केनाऽपि वाक्येन मायिकत्वम्।

किञ्च मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यत इति श्रीमदाचार्यचरणैरूक्तम्। उपासनार्थं धर्मारोप इत्यादिकमप्ययौक्तिकम्। न हि शाखावत् प्रत्यक्षंब्रह्म, यस्मिन्नरून्धतीव धर्मा आरोप्यन्ते। किञ्चोपहितस्य त्याजत्वेन पुत्रादिवत् तत्त्यागापत्तिः। किञ्च, न मिथ्याज्ञानेन चित्तशुद्धिः। अन्यथा प्रापञ्चिकज्ञानेनाऽपि चित्तशुद्धि स्यात्। किञ्च, जीवन्मुक्त्युछेदापत्तिः। ज्ञानोदयेऽविद्याशरीर निवृत्तिः। किञ्च प्रवेशानुपपत्तिः। जीवहानिरेव मोक्षः। जीवस्य मायिकत्वेन मायानाशे तन्नाश इति दिक्॥२२॥

व्याख्यार्थ – अत्रैव का अर्थ है कार्य कारण के विचार में शंकर शब्द मे स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर शाङ्कर बना है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार घट पट रूप जगत् माया के सम्बन्ध से बना हुआ है अतः नश्वर है। इनके मत में प्रपञ्च (जगत्) को मात्रिक (असत्य) माना है अतः उसका कारण भी वैसा ही होना चाहिये। क्योंकि कार्य सदा कारण सजातीय होता है अर्थात् जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा। इस (जगत्) का कारण अज्ञान ही है ब्रह्म तो निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरंजन है तथा 'अर्थात् आदेशो नेति–नेति' इन श्रुतियों से 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को निराकार एवं अकर्त्ता बनाया है तथा जिसकी उपासना करते है वह ब्रह्म नहीं है। जो–जो कर्त्ता होता है वह वह सधर्मक होता है और जो–जो आकार वाला होता है वह–वह नश्वर होता है इस

अनुमान से आकार के नश्वर होने से ब्रह्म निराकार सिद्ध होता है। मैं अज्ञ हूँ इस प्रकार के अनुभव से अज्ञान की सिद्धि होती है। उसी अज्ञान का दूसरा नाम माया तथा अविद्या है माया विचित्र परिणाम के स्वभाव वाली है उसी के द्वारा विचित्र जगत् प्रतीत होता है। शुद्धसत्वप्रधाना माया है और मलिन सत्वप्रधाना अविद्या है, माया और अविद्या में यह भेद है उनमें जैसे जल या दर्पण आदि में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब होता है उस तरह ब्रह्म का जब माया में प्रतिबिम्ब होता है उसे ईश कहते हैं और उसी ब्रह्म का अविद्या में जब प्रतिबिम्ब होता है उस प्रतिबिम्ब में जीव व्यवहार होता है। जैसे वृक्ष वन आदि से आकाश के परिच्छेद की प्रतीति होने पर जैसे वृक्ष, वन आकाश आदि व्यवहार होता है उसी तरह अविद्या एवं माया के सम्बन्ध से जीव तथा ईश व्यवहार होता है। जैसे अंगुलिआदि के सम्पर्क से दो चन्द्र आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार माया सम्बन्ध से जीव ईश आदि प्रतीति होती है। इसलिये व्यासजी ने 'आभास एव च' इस सूत्र से जीव को आभास बताया है। जैसे रस्सी में सर्प का आभास होता है उसी तरह ब्रह्म में जीव का आभास होता है, अतएव 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति में घट आदि विकार वाणी से ही कह जाते हैं वस्तुतः घट सत्य नहीं है। 'यह जो कुछ मन, वाणी, नेत्र, कान से ग्रहण किया जाता है उसे तू मायामय मनोमय जान' ऐसा गीता में भगवान् का वचन है इससे भी जगत् के मायिक होने से नश्वरता सिद्ध होती है अतः जगत् की प्रतीति भ्रान्ति से है ब्रह्ममें कर्तृत्व आदि भी भ्रान्ति ही है।

शंका हो सकती है कि 'विश्वतश्चक्षुः' सहस्त्रशीर्षा' सम्बाहुभ्यां धमति' 'प्रज्ञानधनः' विशवस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता' 'जन्माद्यस्य यतः' 'कर्त्ता कारयिता हरिः' अहं सर्वस्य प्रभव इत्यादि श्रुति–सूत्र–स्मृतियों से ब्रह्म की साकारता एवं कर्तृत्व सिद्ध होता है, किन्तु ऐसी शंका ठीक नहीं शुद्ध ब्रह्म के दुर्ज्ञेय होने से शाखारून्धती न्याय से उपासना के लिये ब्रह्म में सधर्मकता का आरोप करके पीछे उसका निषेध करके कर्तृत्वादि से रहित ब्रह्म का बोध कराती है। जब उपासना से चित्त शुद्धि हो जाती है तब अद्वैत की स्फूर्ति होती है अविद्या निवृत्ति हो जाती है तब ब्रह्म ही भासित होता है ऐसा उनका (शंकराचार्य का) मत है। यह ठीक नहीं।

श्रुतियों में कहा है– कि 'यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्या चक्षते' यह जो कुछ है वह सब सत्य है ऐसा कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनि वराखिलम्' हे मुनि–श्रेष्ठ यह सब जगत् अक्षय और नित्य है, इत्यादि वाक्यों से जगत् की सत्यता और ब्रह्मता कही है इसलिये जगत् को मायिक मानने में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष जो ग्यारह शाखाएं हैं उनमें कहीं भी जगत् को मिथ्या (झूठा) नहीं कहा हैं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' जिस ब्रह्म से ये सब उत्पन्न होते है 'जन्माद्यस्य यतः' इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ब्रह्म से होती है। इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म ही इस जगत् का कारण है जब कारण (ब्रह्म) सत्य है तो कार्य (जगत्) असत्य कैसे हो सकता है। असत् अज्ञान् इसका कारण नहीं हो सकता। सन्देह हो सकता है कि स्वप्न असत् है उससे शुभ अशुभ सूचित होते हैं, अतः असत् से भी सत् की उत्पत्ति हो सकती है यह ठीक नहीं।

जागृत् दशा में देखी तथा सुनीं हुई बातों का मनन होता रहता है, उसी के सम्बन्ध से स्वप्न दीखता है। अतः स्वप्न का कारण असत् कहाँ है सत् ही है। और यदि असत् (स्वप्न) से सत् की उत्पत्ति मानते हो तो स्वप्न में किये हुए भोजन से पेट भर जाना चाहिये। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इस श्रुति में जो ब्रह्म को निष्कल आदि बताया है उसका आशय तो यह है कि लौकिक क्रिया कलाप सत्वादि गुण से उत्पन्न होने वाले शरीर विहारी इन्द्रियां जड़ धर्म ये ब्रह्म में नहीं है, यह बताने के लिये ऐसा कहा है। यदि सामान्य रूप से सब का निषेध होता तो 'एतस्यै वानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति कलाया' इस ब्रह्म के ही आनन्द की मात्रा का अन्य प्राणी अनुभव करते हैं इससे कला का और आसीनो दूरं व्रजति' वह एकत्र स्थित रखते हुए दूर देश में चला जाता है इससे क्रिया का तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' एक ही देव सब प्राणियों में गूढ है इससे गुणों का 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' उतामृतत्वस्येशानः' ऐसा कहकर फिर 'सर्वतः पाणिपादं तत्' ऐसा भी कहा है इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् का शरीर अलौकिक है तथा इन्द्रियां विकार रहित हैं। इसी तरह अणोरणीयान् महतो महीयान्' यहाँ भी ब्रह्म में अणुत्व और महत्त्व आदि धर्म कहे है उन वाक्यों का विरोध होगा। अर्थात् आदेशो नेति–नेति' यहाँ का इति शब्द प्रकार वाची है इसलिये ब्रह्म लौकिक प्रकार वाला नहीं है। व्यास चरण 'प्रकृतैता वत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति न भूयः' ऐसा सूत्र पढ़ते हैं उसमे निषेध वाक्यों से प्रकरण में आये हुए लौकिक स्थूलत्वादिक का निषेध करते हैं और फिर उन धर्मो को कहते हैं अर्थात् श्रुति जिस वाक्य में प्रकरण में ब्रह्म के धर्मो का निषेध करती है फिर उसी वाक्य और उसी प्रकरण में धर्मो को कहती है। जैसे 'अस्थूल

मनणु– 'ऐसा कह कर फिर 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा भूमी विधृते तिष्ठतः' ऐसा कहा। यदि 'अर्थात् आदेशो नेति–नेति' यह सूत्र मूर्त्त एवं अमूर्त्त का निषेध करने वाला होता है तो प्रकृत और एतावत् में से कोई एक पद व्यर्थ हो जायेगा। अथवा प्रकृत ब्रह्म में जो एतावत्व (इतनापन) उसका निषेध करते हैं इन्द्रो मायाभिः यह मन्त्र तो इस प्रकार है–

रूपं–रूपं प्रति रूपो बभूव यत्तस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरू रूप ईयते।।

यह मन्त्र है। वहाँ ज्ञान के प्रति माया कारण है न कि ब्रह्म की बहुरूपता में माया कारण हैं यदि ब्रह्म की बहुरूपता में माया कारण होती तो इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ही 'मायाभिः पुरूरूपो बभूव' ऐसा कहते है। इसी तरह यद्वाचाभ्युदितं–' इत्यादि कहा है उसका तो अर्थ यह है कि जो वाणी आदि से अगम्य है वह प्रेरणा करने वाला ब्रह्म है ऐसा तुम जानो यह वाणी प्रेरणा करने वाली नहीं हैं। तो उस ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो उसके लिये कहते है 'यदिदमुपासते' इसमें वैदिकाः इतना शेष रह गया है उसे पढने पर 'वैदिक इस श्रुति इदं प्रसिद्धं (ब्रह्म) की उपासना करते हैं'। यदि उपास्य अब्रह्म अभिप्रेत होता तो फिर श्रुति इदं शब्द न बोलती केवल 'नेदं यदुपासते' इतना ही बोलती, इतने से ही आपका अभिप्रेत अर्थ हो जाता। और ईश्वर को साकार मानने पर उसमें नश्वरता आ जायगी इसको सिद्ध करने वाला जो अनुमान 'यद्यत् साकृति तन्नश्वरम्' दिया था उसमें जन्यत्वात् अथवा प्राकृतत्वात् ऐसा हेतु भी अवश्य कहना चाहिये, जब ऐसा हेतु उक्त अनुमान में कहोगे तो ईश्वर के साकार होने पर भी उस में नश्वरता दोष नहीं आयेगा। अर्थात साकृति नश्वर वही

होता है जो जन्य (किसी के द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला) होता है ईश्वर जन्य नहीं है इसलिये साकार होते हुए भी नश्वर नहीं है। प्रकृतत्व हेतु देने पर भी ईश्वर में नश्वरत्व दोष नहीं होगा और जो यह कहा था कि 'अहमज्ञः' इस प्रकार के अनुभव से सिद्ध जो अज्ञान जिसके माया अथवा अविद्या ये नाम हैं उससे यह जगत् प्रतीत होता है अतः नश्वर है, ऐसा कथन में कोई चातुर्य नहीं हैं। वह अज्ञान जिससे यह जगत् प्रतीत होता है वह अज्ञान ब्रह्म में रहता है अथवा जीव में यदि वह अज्ञान ब्रह्म में रहता है तो ब्रह्म उस अज्ञान का आधार हुआ तो ब्रह्म निर्विशेष कहाँ रहा सविशेष हो गया और ब्रह्म अज्ञानी हो जायेगा। जीव को अज्ञान रूप है ही इसलिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। प्रतिबिम्ब पक्ष भी ठीक नहीं है, प्रतिबिम्ब स्वच्छ आधार जलादि में ही होता है और रूप वाले का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जिस माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं वह माया तो मलिन है तथा मिथ्या है और आपके द्वारा माना गया ब्रह्म निराकार है तब प्रतिबिम्ब असंभव है' यदि निराकार का मलिन आधार में प्रतिबिम्ब होता हो तो वायु निराकार है उसका प्रतिबिम्ब मलिन जो काष्ठ है उसमें होना चाहिये इस तरह की अनेक युक्तियों से प्रतिबिम्बवाद का खण्डन विद्वन्मण्डन में किया है। यदि कहो कि नीरूप (रूप रहित) आकाश का प्रतिबिम्ब होता है उसी तरह नीरूप ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब हो जायेगा। ऐसा कथन ठीक नहीं जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह आकाश का (शून्य का) प्रतिबिम्ब नहीं है वह तो प्रभा मण्डल का प्रतिबिम्ब है अथवा पञ्चीकरण प्रक्रिया से आकाश में जो पृथ्वी का अंश है वह रूप वाला है इसलिये उसका प्रतिबिम्ब होता है तो फिर प्रपञ्चीकरण प्रक्रिया से वायु में भी पृथ्वी का अंश है उसका प्रतिबिम्ब क्यों नहीं होता? वायु में उद्भूत (प्रकट)

रूप नहीं है अतः उसमें रूपवत्व की प्रतीति नहीं है और जो प्रतिबिम्बवाद के समर्थन में 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्' यह दृष्टान्त दिया था वह भी प्रतिबिम्ब का समर्थक नहीं है यह तो एक वस्तु नाना प्रकार की कैसे होती है, इस में दृष्टान्त है, प्रतिबिम्बवाद के समर्थन में नहीं है। यदि प्रतिबिम्ब पक्ष आपका मान लिया जाय तो ब्रह्म को बिंब मानना पड़ेगा तब उसका प्रतिबिंब माया में होगा जब माना तो ब्रह्म सविशेष हो जायेगा। यदि कहा कि 'आभास एव चेति' इस ब्रह्म सूत्र में आभास माना है अतः आभास मान लिया जाय यह भी ठीक नही उक्त सूत्र में जो आभास' पद है उसका अर्थ तो जैसा आप करना चाहते हैं वह नहीं है, जो अनाचारी ब्राह्मण होता है उसे ब्राह्मणाभास कहते हैं उसी तरह जिसमें आनन्द अंश का तिरोभाव हो गया है उसको ब्रह्मभास कहते हैं। इस अर्थ को बोधित करता है 'रज्जु सर्प' दृष्टान्त भी आपके मत में ठीक नहीं बैठता इस दृष्टान्त में तीन पदार्थ हैं सर्प, रस्सी और देखने वाला। अन्यत्र देखे हुए वास्तविक सर्प को दीखने वाली रस्सी में तीसरा जो दृष्टा है उसको सर्प का आभास होता। यहाँ तो जगत् वास्तविक नहीं है ब्रह्म अदृश्य है और देखने वाला कोई हैं ही नहीं तब रज्जु सर्प का दृष्टान्त कैसे घटित होगा? मानलो कि आभास घट–पट आदि रूप से होता है तो जैसे रस्सी में, घोड़े में आकार का आभास नहीं होता किन्तु सर्प का ही आभास होता है कारण कि रस्सी में और सर्प में समानता हैं इसी तरह ब्रह्म में भी घट–पट आदि रूप जगत् का सादृश्य है तो ब्रह्म साकार हो जायेगा। गन्धर्व नगर आदि में तो वायु के सम्बन्ध से ही बनते हैं उसमें अन्य कुछ नहीं होता अतः वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। 'वाचारम्मणं विकारो नामधेयम्– 'यह तो जगत् को ब्रह्म से अभिन्न बोधित करता है यह

आगे कहा जायेगा। 'यदिदं मनसा वाचा– 'इस श्लोक में चक्षु आदि से जो नश्वर गृह्यमाण है उसे मायामय मनोमय जानो ऐसा अन्वय करने से स्वाप्निक ही नश्चर है और वह मायामय है। अतएव 'कात्स्न्र्येनाभि व्यक्त स्वरूप त्वात्' इस सूत्र में भगवान् व्यास ने स्वाप्निक प्रपञ्च को ही मायिक कहा हैं। 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इस सूत्र में जगत् को स्वप्न की तरह नहीं माना हैं। प्रत्युत स्वप्न के समान नहीं है ऐसा निषेध करके जगत् मायिक नहीं है ऐसा कहा है। श्रीमत्प्रभु चरणों ने तो 'जो यह यादव कुल चक्षु आदि से ग्रहण किया जा रहा है वह मायिक है नश्वर है ऐसा समझ' । 'विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां –' इसके प्रश्नोत्तर प्रकरण में निरूपित किया है, ऐसा कहा अतः किसी भी वाक्य से इसमें मायिकता नहीं आती। पुराणों में जो जगत् को मायिक कहा है वह तो इस जगत् से वैराग्य हो इसके लिये कहा है। ब्रह्म में उपासना के लिये धर्मो का आरोप है ऐसा कथन भी युक्ति संगत नहीं हैं। और जो शुद्ध ब्रह्म के दुर्ज्ञेय होने से शाखारून्धती न्याय से उपासना के लिये सर्धर्मकता ब्रह्म में आरोपित की जाती है और बाद में उसका निषेध होने से कर्तृत्व आदि से रहित ब्रह्म का बोध श्रुति करती है यह कहा वह भी ठीक नहीं है, शाखारून्धती न्याय का स्वरूप है–आकाश में अरून्धती का एक तारा होता है वह बहुत छोटा होता है प्रथम–प्रथम देखने वाले को वह दिखाई नहीं देता इसलिये उसे दिखाने के लिये जिसे दिखाना है उससे कहा जाता है कि देखो वृक्ष की अमुक शाखा (डाली) है उसके दस हाथ की ऊँचाई पर जो छोटा सा तारा दीखता हैं वह अरून्धती का तारा है। जैसे अरून्धती के तारे को दिखाने के लिये जिस शाखा का सहारा लिया जाता था वह शाखा प्रत्यक्ष थी परन्तु यहाँ तो शाखा की तरह ब्रह्म प्रत्यक्ष कहाँ है ?

जिसमें अरून्धती की तरह धर्मो का आरोप किया, जाय यदि मानलो ब्रह्म सोपाधिक है तो उपाधि वाला तो त्याज्य होता है। जैसे पुत्रादि जो सदन्तादि उपाधि से युक्त होता है उसका त्याग कर दिया जाता है तो ब्रह्म भी यदि सोपाधिक है तो उसका त्याग करना होगा, उपासना कैसी और मिथ्या ज्ञान से चित्त शुद्धि कैसे हो सकती है? यदि मिथ्या ज्ञान से चित्तशुद्धि होती हो तो प्रापञ्चिक ज्ञान से चित्त शुद्धि होनी चाहिये। प्रपञ्च (जगत्) को मिथ्या मानने पर जीवन्मुक्ति का ही उच्छेद हो जायेगा, ज्ञान का जब उदय होता है तो उससे अविद्या शरीर की निवृत्ति हो जायेगी। मुक्ति में जीव का भगवान् प्रवेश होता है यह कैसे सम्भव होगा? अर्थात् जीव हानि का नाम ही मोक्ष होगा क्योंकि आप जीव को तो मायिक मानते हैं, माया का नाश होने पर ही मुक्ति होती है तो जीव नाश होने पर मुक्ति होगी तो फिर जीवन्मुक्ति उसे कैसे कहेंगे ?।।२२।।

मायामूलत्वमस्य मतस्यातो मायाजन्याजन्यत्वे पृष्ट्वोभयं दूषयन्ति –

आभासार्थ – यह शांकर मत मायामूलक है इसलिये माया जन्या है या अजन्या है 'यह पूछकर दोनों को दूषित करते हैं–

किञ्च जन्या त्वजन्या वा मायाऽऽद्ये जनको हि कः।।
अन्याभावात्तु ब्रह्मैव सविशेषत्वमागतम्।।२३।।
द्वितीये त्वद्वैतभङ्गः कादाचित्कं त्वम्।।
आत्मैवेदमग्र आसीदित्यादिश्रुतिबाधतः।।२४।।

श्लोकार्थ– यहाँ यह प्रश्न है कि माया जन्या (उत्पन्न) होने वाली है अथवा अजन्या (उत्पन्न नहीं होने वाली) है यदि माया

उत्पन्न होती है तो उसका जनक (उत्पन्न करने वाला) कौन है ? आप तो अद्वैत मानते हैं तो माया का जनक ब्रह्म ही होगा तो ब्रह्म में सविशेषत्व आ जायेगा। यदि माया को अजन्या मानते हो तो अद्वैत कहाँ रहा ? माया का कादाचित्क मानना तो असंगत है अर्थात् माया कभी उत्पन्न होती है कभी नष्ट हो जाती है ऐसा मानना असंगत है क्योंकि श्रुति में तो यह स्पष्ट है कि 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' सबसे पहले यह प्रपञ् ब्रह्म ही था यदि माया होती तो उसका पहले होना श्रुति कहती॥२३॥ -॥२४॥

किञ्चेत्यादि।। आद्ये जन्येति पक्षे।। ब्रह्मैव जनक इति चेत् तर्हि भद्रं: सविशेषत्वं ब्रह्मण्यागतमित्यर्थः॥२३॥ -॥२४॥

व्याख्यार्थ – माया जन्या का पक्ष रखते हैं तो ब्रह्म ही उसका जनक होगा तब बहुत अच्छी बात है ब्रह्म में सविषता आ गई॥२३॥ -॥२४॥

अनादित्वे तु सान्तत्वमिति पक्षोऽप्यसङ्गतः।।
अनादित्वे त्वनन्तत्वं मायाया इति निश्चयात्॥२५॥

श्लोकार्थ–यदि ऐसा मानते हो कि माया अनादि है किन्तु सान्त है यह भी असंगत हैं क्योंकि अनादि तो अनन्त होता है जैसे ब्रह्म इसमें अनुमान प्रमाण है यद्–यद् अनादि तत्तत् अनन्तं यथा ब्रह्म' इस अनुमान से माया में भी अनन्तता की प्राप्ति होगी।।२५।।

यद्यदनादि तत्तदनन्तम्। यथा ब्रह्मेत्यनुमानेन मायाया अप्यनन्तत्वचापत्तेः। अथानादिः सान्तः प्रागभाव इति, नायं नियम इति चेन्न। प्रागभावखण्डनस्योपपादितत्वेन न व्यभिचारः॥२५॥

व्याख्यार्थ –'यद्यदनादि तत्तदनन्तं यथा ब्रह्म' जो–जो अनादि होता है वह–वह अनन्त होता है जैसे ब्रह्म, इस अनुमान से माया में भी अनन्तता की आपत्ति होगी। यदि कहा कि प्रागभाव अनादि है फिर वह सान्त है इसी तरह यह माया भी है इसलिये जो अनादि होता है वह अनन्त होता है ऐसा नियम कहाँ रहा ? ऐसा कहना ठीक नहीं प्रागभाव तो खण्डन पहले ही किया जा चुका है इसलिये पूर्वोक्त अनुमान में कोई व्यभिचार नहीं आता॥२५॥

एवं तन्मतं खण्डयित्वा प्रकृतमाहुः–

आभासार्थ– इस तरह शांकर मत का खण्डन कर प्रकरण की बात कहते हैं–

एतन्मते सुनिष्पन्नं साङ्कर्यं कार्य कारणे।।

तन्निवृत्त्यर्थमाचार्यैः पदं शुद्धं विशेषितम्॥२६॥

श्लोकार्थ– इस तरह इनके मत में कार्य और कारण में सङ्करता हो जाती है। उसको दूर करने के लिये आचार्य चरणों ने अद्वैत के साथ शुद्ध पद दिया है॥२६॥

एतन्मत इति।। शङ्कराचार्यमत इत्यर्थः। अविद्यावच्छिन्नं चैतन्यं कार्यं, मायावच्छिन्नं चैतन्यं कारणमिति साङ्कर्यामित्यऽर्थः। तन्निवृत्त्यर्थं साङ्कर्यनिवृत्त्यर्थम् अद्वैतपदे विशेष्ये विशेषणतयाऽन्वितमित्यर्थः।।२६।।

व्यख्यार्थ–'एतन्मत का अर्थ है शंकराचार्य के मत में अविद्या, वच्छिन्न चैतन्य तो कार्य है और मायावच्छिन्न चैतन्य कारण है इस

प्रकार का सांकर्य होता है, उस सांकर्य की निवृत्ति के लिये ही अद्वैत जो विशेष्य है उसमें शुद्ध को विशेषण रूप से अन्वित किया है ।।२६।।

एवं शुद्धपदप्रयोजनमुक्त्वा समासमाहुः–

आभासार्थ – इस तरह शुद्ध शब्द का प्रयोजन कहकर शुद्धाद्वैत' पद का समास कहते हैं–

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरूषं बुधाः ।।२७।।

श्लोकार्थ – शुद्धाद्वैत पद में कर्म धारय समास जानना चाहिये अथवा 'शुद्धयोः अद्वैतं' ऐसा षष्ठी तत्पुरूष समास भी विद्वान् लोग कहते हैं ।।२७।।

शुद्धाद्वैतपद इत्यादि ।। कर्मधारय इति ।। शुद्धं च तदद्वैतमिति विग्रहः । नचाद्वैते सति साङ्.कर्याभावः स्पष्ट एवेति शुद्धपदमपाऽर्थमिति वाच्यम् । परेषां मते पूर्वं साङ्कर्ये, ततोऽद्वैतम् । अस्मन्मते तु सदैव शुद्धत्वमिति ज्ञेयम् । अत एव स्पष्टतया बोधाय षष्ठीतत्पुरूषमाहुः । अत्र शुद्धे कारणे कार्यस्याद्वैतमिति पक्षे कार्ये अशुद्धत्वम् । अयं दोषः, शुद्धेन ब्रह्मणा अद्वैतमिति तृतीयातत्पुरूषेऽपि । शुद्धाभ्यामद्वैतमिति पक्षे तार्तीयोऽपेक्षितः । शुद्धाभ्यां नामरूपाभ्यामिति समासे कारणेऽशुद्धत्वम् । एवं शुद्धस्य कार्यस्येति पक्षे कारणेऽशुद्धत्वं प्राप्तम् । एवं शुद्धानां पदार्थनामऽद्वैतमित्यत्रापि ।।२७।।

व्याख्यार्थ – शुद्धाद्वैत पद में कर्मधारय समास है उसका विग्रह वाक्य इस तरह है 'शुद्धं तद् अद्वैतम् शुद्धाद्वैतम्' । अद्वैत जब

है तो उसमें साङ्.कर्य का अभाव स्पष्ट है तब उसके साथ शुद्ध पद जोड़ना व्यर्थ है ऐसा यदि कहें तो अन्य के मत में पहले साङ्कर्य आया था इसलिये उन्होंने अद्वैत ऐसा रक्खा, हमारे मत में तो सदैव शुद्धता जाननी चाहिये उस शुद्धता का बोध स्पष्ट रूप से हो जाय इसके लिये षष्ठी तत्पुरूष कहा। 'शुद्धे कारणे कार्यस्य' अद्वैत ऐसा समास करने पर शुद्ध कारण में कार्य की अद्वैत ऐसा अर्थ होगा, तो इस पक्ष में कार्य में अशुद्धता होगी। यह दोष होगा। यदि 'शुद्धेन ब्रह्मणा अद्वैतम्' अर्थात् शुद्ध ब्रह्म के साथ अद्वैत इस तृतीया तत्पुरूष में भी और 'शुद्धाभ्याम् अद्वैतम्' शुद्ध कारण और कार्य से अद्वैत इस पक्ष तृतीय अर्थात् कारण और कार्य से अलग की अपेक्षा रहेगी। यदि 'शुद्धाभ्याम्=नाम रूपाभ्याम् अद्वैतम्' ऐसा समास करें तो इस समास में भी कारण में अशुद्धता प्राप्त होगी। यदि 'शुद्धस्य=कार्यस्य अद्वैतम्' ऐसा समास करें तो कारण में अशुद्धता प्राप्त होगी। इसी तरह 'शुद्धानां= पदार्थानाम् अद्वैतम्' यहाँ भी कारण में अशुद्धता प्राप्त होगी।।२७।।

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।।
कार्यकारणरूपं हि शद्धं ब्रह्म न मायिकम्।।२८।।

श्लोकार्थ – विद्वान् लोग माया के सम्बन्ध से रहित को शुद्ध कहते हैं कार्य कारण रूप ब्रह्म शुद्ध है मायिक नहीं है।।२८।।

मायासम्बन्धरहितमिति।। नचाहन्ताममताऽध्यासस्य मायाकृ तत्वेन मायासम्बन्धस्य स्वमतेऽपि सम्भव इति वाच्यम्। स्वमते मायाया अपि, मम मायेति वाक्याद् भगवच्छक्तित्वेन तस्याश्चाभिन्नत्वेन न परमतवन्मायासम्बन्धः। किञ्चाध्यास एव मायिको, न जीवः।

जीवस्य मायिकत्वं तु पूर्वं निरस्तम्।।२८।।

व्याख्यार्थ–शंका करते हैं कि अहन्ता, ममता और अध्यास ये मायाकृत हैं इसलिये माया का सम्बन्ध स्वमत ये भी सम्भव होगा? ऐसा नहीं कहें हमारे मत में 'मम माया–' इस वाक्य के अनुसार माया को भी भगवान् की शक्ति माना है, शक्तिमान् में भेद न होने से परमत की तरह यहाँ माया का सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि अभ्यास मायिक है पर जीव मायिक नहीं हैं जीव का मायिकत्व तो पहले ही दूषित कर चुके हैं।।२८।।

इति ब्रह्मविदां हार्दं शुद्धाद्वैतं श्रुतेर्मतम्।।
तत्रोत्तमा मध्यमाश्च कनिष्ठा ह्यधिकारिणः।।२६।।

श्लोकार्थ– इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं का अभिप्राय शुद्धाद्वैत वेद का मान्य है और इस के उत्तम मध्यम, कनिष्ठ अधिकारी हैं।।२६।।

इतीति ! श्रुतेरिति जातावेकवचनम्। नृसिंहतापिन्यां, योनित्वं ब्रह्मणः समर्थयित्वा, सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाऽप्यल्पा इत्युक्तम्। तथापि सर्वरूपत्वेऽप्यल्पा अणुपरिमाणाः अग्रे चेश्वरः सर्वभूतादीनि सृष्ट्वा प्रविश्यास्त इति निरूप्याग्रे, सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरेतैरवगत इति वाक्यं पठितम्। अनेन परमात्मनः शुद्धत्वम् उदितम्। अग्रे च जगतोऽविद्यायाश्च सद्रूपत्वेन ब्रह्माभेदो, ब्रह्मण्यऽविद्याभावो निरूपितः उपसंहारे, विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगमिति वाक्यं पठितम्। यत्सर्वगं कारणभूतं ब्रह्म तदेव विष्णवादिरूपं घटादिरूपं चेतनाचेतनाऽऽत्मकमित्यऽर्थः। एतदग्रे सर्वस्य जगतः शुद्धात्मत्वाय वाक्यं पठितम्। सर्वगत एव,

शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो, बुद्धः सुखरूप आत्मेति। एवञ्च श्रुतिषु सर्वस्य शुद्धाद्वयत्वं स्पष्टमतः श्रुतेर्मतमित्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ– 'श्रुतेर्मतम्' यहाँ श्रुति शब्द से एक वचन जाति में है अर्थात् यावन्मात्र श्रुतियों की मान्यता है नृसिंहतापिनी उपनिषद् में ब्रह्म सबका कारण है ऐसा समर्थित करके कहा है, 'सर्वं सर्वामयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु मथाल्पा' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है जीव भी सभी अवस्था में ब्रह्ममय हैं। और अणु है ऐसा कहा, और इसके आगे ईश्वर सब प्राणियों की सृष्टि कर उसमें प्रवेश करके स्थित है ऐसा निरूपण करके ब्रह्म को सन्मात्र, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरंजन, विभु, एक आनन्द रूप, पद एक रस कहीं इन्हीं प्रमाणों से जाना गया है, ऐसा वाक्य पढ़ा हैं इससे परमात्मा में शुद्धता का उदय हुआ और आगे जगत् और अविद्या के सद्रूप होने से ब्रह्म से अभेद है= ब्रह्म में अविद्या का अभाव निरूपित किया है। उपसंहार में 'विष्णुदीशानो ब्रह्मन्यदपि सर्वं – सर्वगम्' ऐसा वाक्य पढ़ा है जिसका अर्थ है कि जो सर्वत्र कारण भूत ब्रह्म है वह ही विष्णु आदि रूप एवं घटादि रूप चेतना अचेतनात्मक हैं। इसके आगे सर्व जगत् को शुद्ध बताने के लिये वाक्य पढ़ा है 'वह सर्वगत ही है शुद्ध अबाध्य स्वरूप, बुद्ध सुख रूप आत्मा है' इस तरह श्रुतियों में सारा ही 'शुद्धाद्वैत' स्पष्ट है अतएव श्रुतेर्मतम् यह कहना संगत है।।२६।।

तेषां प्रतीतिः प्रथमस्कन्धे तु श्रीहुताशनैः
इदं हि विश्वमित्यत्र सुबोधिन्यां निरूपिता।।३०।।

श्लोकार्थ–शुद्धाद्वैत में जिन उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ अधिकारियों

को कहा है उनकी प्रतीति प्रथम स्कन्ध के 'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो—इस श्लोक की सुबोधिनी में आचार्य चरणों ने की है।।।३०।।

तेषामिति। अधिकारिणामित्यर्थः। श्रीहुताशनैः श्रीमदाचार्यचरणैः।। इदं हि विश्वमित्यत्रेति।। इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यस्मिञ्जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः • तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् इति श्लोके इत्यर्थः। अत्रेदं विश्वं भगवानित्युत्तमस्य प्रतीतिः। इदं विश्वं भगवानिवेति मध्यमस्य। तत्र यथा भगवान् सच्चिदानन्दरूपस्तथा जगदिति। इदं विश्वं, भगवान् इतरो जगत्कारणत्वांदिति कनिष्ठस्येति श्लोकार्थः।।३०।।

व्याख्यार्थ – 'तेषां का अर्थ है उन अधिकारियों की। हुताशनैः का अर्थ है श्रीमदाचार्य चरणों ने इदं हि विश्वं यह श्लोक इस प्रकार है 'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यस्मिञ्जगत्स्थान निरोध सम्भवाः। तद्धि स्वयं वेद भवास्तथापि भवतः प्रदर्शितम् यहाँ 'इदं विश्वं भगवान्' यह विश्व भगवान् है ऐसी जिसे प्रतीति होती है वह उत्तम है। 'इदं विश्वं भगवानिव' यह विश्वभगवान् जैसा है ऐसी जिसे प्रतीति होती है वह मध्यम है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान् सच्चिदानन्द रूप है उसी प्रकार का यह जगत् भी है। 'इदं विश्वं, भगवान् इतरः' यह विश्व है और भगवान् इससे अलग है क्योंकि भगवान् तो जगत् का कारण है इसलिये जगत् से अलग है कनिष्ठ अधिकारी की इस प्रकार की प्रतीति है।।३०।।

सर्वं ब्रह्मैव तत्राद्ये द्वितीये भगवान् यथा।।
तथा विश्वमिदं सर्वं ब्रह्मकार्यं निजेच्छया।।

कार्यरूपेणं भेदो हि न भेदः कारणात्मना।।
भेदसह्यस्त्वभेदोऽत्र तादात्म्यं परिकीर्त्तितम्।।
तृतीये भगवान् भिन्नो जगतः कर्त्तृतः स्फुटः।।
इति द्वैतप्रतीतिस्तु श्रुतिबाधान्न गृह्यते।।३३।।

श्लोकार्थ– वहाँ आद्य अर्थात् उत्तम पक्ष में 'सब ब्रह्म ही है' और द्वितीय=मध्यम पक्ष में जिस तरह भगवान् हैं उसी तरह यह विश्व भी उस ब्रह्म की इच्छा से ही उसका कार्य है। इस पक्ष में कार्यरूप से भेद है, कारण रूप से ब्रह्म भेद नहीं है यहाँ भेद सह्य अभेद है वस्तुतः तो यहाँ तादात्म्य ही कहा गया है। तृतीय=कनिष्ठ पक्ष में भगवान् जगत् का कर्त्ता होने से जगत् से अलग है यह स्पष्ट हो जाता है, इसलिये इस पक्ष में द्वैत की प्रतीति होती है अतः यह पक्ष श्रुति विरूद्ध होने से ग्राह्य नहीं है।।३३।।

तत्रेति।। अधिकारिष्वित्यर्थः।। आद्ये उत्तमाधिकारिणि।। सर्वं भगवानेवेति सर्वत्र भगवत्स्फूर्त्तिः सदेत्युत्तमाधिकारिणः प्रतीतिः।। द्वितीये मध्यमेऽधिकारिणि।।३१।।३२।।

तृतीये कनिष्ठेऽधिकारिणि यथा घटोत्पादकः कुलालो घटतो भिन्नस्तथा भगवाञ्जगतो भिन्न इत्यर्थः।। श्रुतिबाधादिति।। सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। पुरूष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। द्वितीयाद्वैभयं भवति य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति, योऽन्यां देवता मुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मिन् स वेद यथा पशुरित्यादिश्रुतिबाधादित्यर्थ।।३३।।

व्याख्यार्थ – तत्र अर्थात् उन अधिकारियों में। आद्य का अर्थ है – उत्तमाधिकारी जिसे सर्वत्र भगवान् की ही स्फूर्ति होती है,

सारा जगत् सत् है ऐसी उत्तमाधिकारी की प्रतीति है। द्वितीय से मध्यमाधिकारी लिया गया है॥३१॥-॥३२॥

तृतीय से कनिष्ठाधिकारी लिया गया है। उसकी मान्यता है कि जैसे घड़े का बनाने वाला कुम्हार घड़े से अलग है उसी तरह इस जगत् का बनाने वाला भगवान् इस जगत् से अलग है। यह पक्ष 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। 'आत्मैवेदं सर्वम्'। पुरूष एवेदं सर्वं यद् यच्च भाव्यम्।' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति। य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरूतेऽथ तस्य भयं भवति, योन्यां देवता मुपास्तेऽन्योऽसावन्योहमस्मिन् स वेद यथा पशुः' इत्यादि श्रुतियों का बाध होने से ग्राह्य नहीं है॥३३॥

शुद्धाद्वैतविदां या हि प्रतीतिः सोत्तमा मता॥
भेदाभेदप्रतीतिस्तु मध्यमानां प्रकीर्त्तिता॥ ३४॥

श्लोकार्थ—शुद्ध अद्वैत जानने वालों की जो प्रतीति है वह उत्तम मानी गई है और भेदाभेद प्रतीति मध्यम अधिकारियों की कही गई है॥३४॥

शुद्धाद्वैतविदामिति। सर्वत्र भगवत्स्फूर्त्या विषयान्तरानुसन्धानानुदयादिति भावः॥ भेदाभेदप्रतीतिरिति॥ कार्यरूपेण भेदः कारणात्मनाऽभेद इति प्रतीतिरित्यर्थः॥ मध्यमानामिति॥ अधिकारिणामित्यर्थः॥ ३४॥

व्याख्यार्थ – जिनको सर्वत्र भगवान् की ही स्फूर्ति होती है और विषयान्तर का अनुसन्धान या उदय नहीं होता इसलिये वे उत्तम अधिकारी हैं। जिन्हें कार्य रूप से भेद प्रतीति होती है किन्तु कारण रूप से अभेद प्रतीति होती है वे मध्यम अधिकारी हैं।

अतो हि मध्यमः पक्ष शुद्धाद्वैतानुरोधतः।।
बोधाय बहु सन्दर्भे गोस्वामिपुरूषोत्तमै।। ३५।।
श्री मदाचार्यचरणैर्यत्र कुत्रापि दर्शितः।।
निम्बार्कभास्कराचार्यों भेदाभेदनिरूपकौ।। ३६।।

श्लोकार्थ – अतः मध्यम पक्ष को गोस्वामी श्रीपुरूषोत्तमजी ने शुद्धाद्वैत के अनुरोध से बोध के लिये दिखाया है उसी तरह श्रीमदाचार्य चरणों ने भी यत्र–तत्र इस पक्ष को दिखाया है भेदोभेद (द्वैताद्वैत) पक्ष निम्बार्क और भास्कराचार्य का है।।३५-३६।।

शुद्धाद्वैतानुरोधत इति।। कार्यत्वेन कारणत्वेन भेदेऽपि ब्रह्मत्वं न व्यभिचरतीति शुद्धाद्वैतानुरोधस्तस्मादित्यर्थः।। सन्दर्भ इति।। ग्रन्थ इत्यर्थः।। वाक्यसन्दर्भो ग्रन्थ इति लक्षणात्।। ३५।।

व्याख्यार्थ– कार्य कारण रूप से ब्रह्म और जगत् का भेद होने पर भी ब्रह्मत्व दोनों में रहता ही है उसमें शुद्धाद्वैत का अनुरोध होने से वह मध्यम पक्ष में माना गया है। सन्दर्भ कहते हैं ग्रन्थ को 'वाक्य सन्दर्भो ग्रन्थः' वाक्य के सन्दर्भ को ग्रन्थ कहते हैं ऐसा ग्रन्थ का लक्षण है।। ३५।।

श्रीमदाचार्यचरणैरिति।। सुबोधिन्यादिषु यत्रकुत्रापि दर्शित इत्यर्थः। ननु भेदाभेदपक्षस्तु निम्बार्कभास्कराणामिति शङ्कायां स्वस्माद्भिन्नत्वं समर्थयन्ति।। निम्बार्केत्यादि।। ३६।।

आचार्य चरणों ने सुबोधिनी में यत्र तत्र इस मध्यम पक्ष की चर्चा की है। शंका होती है कि भेदाभेद पक्ष तो निम्बार्क भास्कराचार्य का है वह अपने से भिन्न है इसी शंका के समाधान के लिये ही

तो स्पष्ट किया है यह मत निम्बार्काचार्य एवं भास्कराचार्य का है ऐसा नाम निर्देश किया है।। ३६।।

तत्राद्यानां वास्तवः स भास्कराणामुपाधितः।।
तत्राद्ये वास्तवो भेदो माध्वाचार्यवदेव हि।। ३७।।

श्लोकार्थ – उनमें आद्य अर्थात् निम्बाकाचार्य के मत में भेद वास्तविक है और भास्कराचार्य के मत में औपाधिक भेद हैं निम्बार्कों का भेद माध्वाचार्य के सदृश ही हैं।। ३७।।

तत्रेति।। उभयोर्मध्य इत्यर्थः।। आद्यानां निम्बार्काणाम्।। स भेदाभेदः।। उपाधित इति।। उपाधितकृत इत्यर्थः।। तत्रेति।। भेदाभेदपक्ष इत्यर्थः।। आद्ये निम्बार्कभेदाभेदे।। तत्राऽभेदो भेदश्चेति कोटिद्वये भेदो वास्तवः।। माध्वाचार्यवदिति दृष्टान्तेन माध्वाचार्यस्य मतमनूदितम्।। ३७।।

व्याख्यार्थ – तत्र=उन दोनों में, आद्यानाम्=निम्बार्कों का, सः=वह भेदाभेद वास्तविक हैं उपाधितः=उपाधि से किया हुआ। उस भेदाभेद पक्ष में निम्बार्कों के भेदाभेद में भेद और अभेद इन दोनों कोटि में भेद वास्तविक हैं। माध्वाचार्यवत् इस दृष्टान्त से माध्वाचार्य के मत का भी अनुवाद हो गया।। ३७।।

विभिन्नांशाः सदा जीवा न स्वांशा इति निश्चयः।।
अभेदश्चित्त्वसाधर्म्यादेवं तेषां मतस्थितिः।। ३८।।

श्लोकार्थ – निम्बार्क एवं माध्व मत में जीव ब्रह्म के विभिन्न अंश हैं स्वांश नहीं है यह निश्चित है। ब्रह्म एवं जीव में अभेद चैतन्य की समानता से है ऐसी उनके मत की स्थिति है।।३८।।

माध्वाचार्याणां मते अंशा द्विविधाः। करचरणादिवत् स्वांशाः। पुत्रादिवद् विभिन्नांशाः। तत्र स्वांशा मत्स्यादयः। विभिन्नांशा जीवाः। अंशत्वं नाम राश्येकदेशत्वम्। माध्वानुयायिवनवमालिदासस्तु तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वमंशत्वम्। यथा चन्द्रमण्डलाच्छतांशो गुरूमण्डलः। तथांऽशो नानाव्यपदेशादित्यादिष्वित्याह तेन जीवेषु न कदापि ब्रह्मत्वमिति। तद्वन्निम्बार्काचार्याणाम्। तर्हि कथं भेदा–भेदस्त्राहुः।। अभेद इति।। चित्त्वसाधर्म्यादिति।। यथा मुखं चन्द्र इत्यत्राह्लादकत्वादिधर्मसाम्यान्मुखे चन्द्रत्वारोपान्मुखं चन्द्र इति व्यवहारस्त्थाचित्त्वसाधर्म्याज्जीवो ब्रह्मेति व्यवहार इति भावः। तेषां निर्म्बाकाणाम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ – माध्वाचार्यो के मत में अंश दो प्रकार के हैं– हाथ पैरों की तरह स्वांश और पुत्रादि की तरह विभिन्नांश। उनमें स्वांश तो मत्स्य आदि अवतार हैं और विभिन्नांश जीव हैं। अंश कहते हैं राशि के एक देश (एक हिस्से) को माध्व मत के अनुयायी वनमालिदास ने अंश का लक्षण 'तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वम्' उससे भिन्न होते हुए भी उसकी समानता वाला हो वह अंश कहलाता हैं। ऐसा अंश का लक्षण किया हैं जैसे चन्द्र मंडल का शतांश गुरू मंडल है। ऐसा 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादि की व्याख्या में कहा हैं। इसलिये जीवों में ब्रह्मत्व कदापि नही है। उसी तरह निम्बार्काचार्य भी मानते हैं, तब फिर भेदाभेद कैसे हुआ? उसके लिये कहते हैं कि 'अभेदश्चित्त्वसाधर्म्यात् ब्रह्म जिस प्रकार चैतन्य धर्म वाला है, जीव भी उसी तरह चैतन्य धर्म वाला हैं। इस प्रकार अभेदश्चित्व साधर्म्यात् इनमें अभेद है जैसे 'मुखंचन्द्रः' यहाँ पर मुख और चन्द्र में आल्हादकता (आनन्दित करने का) धर्म समान है अतः मुख में भी

चन्द्र का आरोप होने से मुखच्चन्द्रः ऐसा व्यवहार होता है। ऐसे ही चैतन्य समान होने से 'जीवो ब्रह्म' ऐसा व्यवहार होता है, यह भाव है। तेषां से यहाँ निम्बार्काचार्य का ग्रहण है।।। ३८।।

कनिष्ठा सा प्रतीतिस्तु नास्मन्मतमवेक्षते।।
अभेदो वास्तवः स्वांशा जीवा इति निजे मते।। ३६।।

श्लोकार्थ– ऐसी प्रतीति कनिष्ठ है। हमारे मध्यम पक्ष की समानता में नहीं आती है। हमारे मत में तो अभेद वास्तविक है और जीव स्वांश हैं।। ३६।।

कनिष्ठाधिकारिप्रतीतिरतः कनिष्ठेत्यर्थः। निम्बार्कभेदाऽभेदप्रतीतिस्त्वित्यर्थः। अस्मन्मतं शुद्धाद्वैतमतम्। एवं निम्बाऽर्काणां भेदाभेदं निरूप्य स्वमते प्रतीयमानं भेदाभेदं निरूपयन्ति।। अभेदो वास्तव इति।। स्वांशा ब्रह्मांशाः।। तेनांशांशिनोरभेदः। स च वास्तव इत्यर्थः।। ३६।।

व्याख्यार्थ – ऊपर की प्रतीति कनिष्ठ अधिकारियों की है अतः कनिष्ठ है निम्बार्कों की भेदाभेद प्रतीति कनिष्ठ में गिनी गई है। हमारा मत तो 'शुद्धाद्वैत मत' है। इस तरह निम्बार्कों के भेदाभेद का निरूपण करके अपने मत में प्रतीयमान भेदाभेद का निरूपण करते हैं। हमारे यहाँ अभेद वास्तविक है, जीव ब्रह्म के अंश है, इसलिये अंश और अंशी का अभेद होता है और वह वास्तविक है।।।३६।।

भेदः कार्यतया जातः क्रीडार्थे तु हरीच्छया।।
पश्चाल्लये कारणे हि स्थितिर्दृष्टा यथा मृदि।। ४०।।

श्लोकार्थ–भगवान् की इच्छा से क्रीडा के लिये कार्यरूप से

भेद हुआ है। पीछे लय होने पर कारण में उस की स्थिति देखी गई है– जैसे मिट्टी में अर्थात् जैसे घट कार्यरूप से मिट्टी से अलग रहते हुए भी लय होने पर मिट्टी से अलग नहीं रहता ।।४०।।

क्रीडार्थमित्यादि। एकाकी न रमते द्वितीयमैच्छत्, एकोऽहं बहु स्यामित्यादिश्रुतेः। क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियः पर ईश कुर्युरिति वाक्यात्, क्रीडाभाण्डमिदं विश्वमिति वाक्याच्च।। लय इति।। तिरोभावे। कारणे कार्यस्येति शेषः त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्त्वय्यिन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे • त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्माद् इत्यष्टमस्कन्धे अमृतमन्थने ब्रह्मवाक्यात्। तदेव दृष्टान्तमुपपादयन्ति।। यथा मृदीति।।४०।।

व्याख्यार्थ – क्रीड़ा के लिये कार्यरूप से भेद हुआ इसमें 'एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्' 'एकोऽहं बहुस्यां'प्रजायेय' इत्यादि श्रुति प्रमाण है तथा 'क्रीड़ार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियः परः ईश कुर्यः' इस वाक्य से तथा 'क्रीड़ाभाण्डमिदं विश्वम्' इस वाक्य से भी भगवान् ने अपनी क्रीड़ा के लिये इस विश्व को बनाया है, यह स्पष्ट हैं। इसी तरह 'त्वय्यग्र आसीत् – 'इस अष्टम स्कन्ध के अमृत मंथन के समय में ब्रह्म के वाक्य से ब्रह्म ही इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व में था मध्य में कार्यावस्था में तथा अन्त में लयावस्था में भी ब्रह्म ही रहेगा। जैसे घट के लिये मिट्टी आदि मध्य और अन्तिम अवस्था में मिट्टी ही रहती है। इसी दृष्टान्त को यथा मृदि से इंगित किया है।।४०।।

पूर्वावस्था तु मृद्रूपा घटावस्था ततोऽभवत्।
घटोऽपि मृत्तिकारूपो लये पश्चाच्च मृत्तिका।। ४१।।

श्लोकार्थ–घट की पूर्वावस्था मृत्तिका रूप है। उसी मिट्टी की

फिर घटावस्था हुई, घट के लीन होने पर पुनः घट मृत्तिका हो जाता है।। ४१।।

पूर्वावस्थेति।। कारणावस्थेत्यर्थः।। ततः कारणरूपान्मृदः। ननु घटावस्थायां कथमद्वैतं तत्राहुः।। घटाऽपीति।। एवञ्च तिसृष्वप्यवस्थासु मृदेवैवं जगत् ब्रह्मैवेति न द्वैतसञ्चारः। अनेन वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुत्युक्तं संगृहीतम्। श्रुत्यर्थस्तु – यो विकारः पृथुवुध्नोदरादि सः वाचारम्भणं, वाचिकक्रियात्मको न तु कारणाद् व्यक्तिभेदापादकः। यथा सुप्त उत्थिते उपविष्टे च पुरुषेऽवयवविन्यासभेदो न पुरुषभेदः। अतो नामधेयङ्करणस्यैव नामधेयं, कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियानिष्पत्त्यर्थं घटशरावादिनाम्ना व्यवह्रियत इति कारणादभिन्नं कार्यम् तदाह, मृत्तिकेत्येव सत्यम्। कारणरूपेण, सत्यं न तु मिथ्या। अन्यथा कार्याभावेन ब्रह्म कस्य कारणं भवेत्। 'कारणाभावे कारणप्रतिपादिकाः, यतो वेत्यादिश्रुतयो विरूद्ध्येरन् यदि विकारे वाङ्. मात्रतामभिप्रेयाद् वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्यमिति वदेत् तावतैव कार्यस्य मिथ्यात्वसिद्धेः। वदति तु नामधेयमितिपदाभ्यां घटितम् तेन कारणादभिन्नं कार्यमित्यभिप्रायादुक्त एवार्थः। किञ्च, वाचारम्भणामिति वाक्यमुपक्रम्याग्रे, कथमसतः सज्जायेतेति सदेव सौम्येदमग्रआसीदिति पठितम्। अत एव सूत्राकार इमामेव श्रुतिं विषयीकृत्य, तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यवदत्। अर्थस्तुवाचारम्भणमित्यादिशब्देभ्यस्तदनन्यत्वं कारणादभिन्नत्वं बोध्यत इति। 'अत्राऽऽदिपदेनेतिशब्दो, नामधेयपदं, सदेवेत्यादीनि वाक्यानि संगृह्यन्ते।।४१।।

व्याख्यार्थ– पूर्वावस्था = कारणावस्था, तदन्तर उसी कारण रूप मिट्टी से घटावस्था होती है। शंका करते है कि जब मिट्टी की

घटावस्था होती है उस समय अद्वैत कैसे होगा ? उसके लिये कहा कि 'घटोऽपि मृत्तिकारूपः' घड़ा भी तो मिट्टी रूप है जैसे घड़े की तीनों ही अवस्था में मिट्टी ही है उसी तरह जगत् की तीनों दशा में भी ब्रह्म ही रहता है। अतः द्वैत का संचार नहीं होता। इससे 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं –मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति में कही गई बात आ जाती है। मिट्टी में जो विकार (घड़े का) बड़ा पेट आदि होना केवल वाणी मात्र से तथा क्रिया से है वह कारण से व्यक्ति को भिन्न नहीं कर सकती। जैसे सोने के समय, उठने के समय, बैठने के समय अवयवों का विन्यास भिन्न होने से पुरूष भिन्न नहीं होता। अतः जैसे घड़ा यह नाम भी कारणरूप है और कारण ही उस–उस काम को करने के लिये घट, शराव आदि नाम से व्यवहृत होते हैं। वे सब कारण से भिन्न (अलग) नहीं है। इसीलिये तो कहा है मिट्टी ही सत्य हैं। अर्थात् कारणरूप से सत्य है। अर्थात् कारणरूप से सत्य है मिथ्या नहीं है, यदि कार्य का अभाव हो तो ब्रह्म किस कारण हो ? कारण के अभाव में कारण का प्रतिपादन करने वाली यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिएं विरूद्ध हो जायेगी। यदि विकार में वाड्.मात्र ही अभिप्रेत होता तो 'वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति में 'वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकेव सत्यम्' ऐसा बोलते इतने मात्र से ही कार्य में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती। परन्तु वैसा न बोल कर 'नामधेयं' और 'इति' इन दो पद से घटित श्रुति को बोला गया है। इसलिये कारण से अभिन्न कार्य है, ऐसा श्रुति का अभिप्राय होने से उक्त अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है। एक बात यह भी है कि 'वाचारम्भणं' इस वाक्य का उपक्रम करके आगे 'कथमसतः' सज्जायेत' यह तथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' यह पढ़ा है अतएव सूत्रकार ने इस श्रुति को विषय करके, तदन्य त्वमारम्भाण शब्दादिभ्यः, कार्य (जगत) की कारण (ब्रह्म) से अभिन्नता

बोधित की है यहाँ आदि पद से इति शब्द नाम धेयपद और सदैव सौम्येदमग्र आसीत् इत्यादि वाक्य संगृहीत होते हैं।।४१।।

तदाहुः–

आभासार्थ–वही कहते हैं–

कार्यकारणयोरैक्यं स्वमते न परे मते।।

नैम्बार्केनेदृशो मार्ग इति बोद्धव्यमञ्जसा।।४२।।

श्लोकार्थ–स्वमत (शुद्धाद्वैत मत) में ही कारण और कार्य का ऐक्य है, पर मत में कार्य कारण का ऐक्य नहीं है। निम्बार्को का इस प्रकार (कार्य कारण की एकता) का मार्ग नहीं है। यह सहज ही जान लेना चाहिये।। ४२।।

कार्यकारणयोरित्यादि।। परे स्वमताद्भिन्ने।। शंङ्क. राचार्यास्तावत् कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण कथयन्ति। तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं न सिद्धयति। सत्यमिथ्ययोरभेदानुपपत्तेः। अत्र सर्वमतोपन्यासः, खण्डनं च विस्तरभिया नोच्यते।। नैम्बार्के इति।। निम्बार्कस्येदं नैम्बार्कमतं, तस्मिन्मत इत्यर्थः।। ईदृशः जगद्ब्रह्मणोरैक्यबोधको मार्गः।।४२।।

व्याख्यार्थ – परे=अपने से भिन्न मत में शंकराचार्य कार्य और कारण की अनन्यता कार्य को मिथ्या मानकर कहते हैं, उनके मत में कार्य कारण की अनन्यता (एकता) सिद्ध नहीं होती। सत्य और मिथ्या का अभेद कैसा। यहाँ पर सब मतों का उपन्यास और खण्डन विस्तार के भय से नहीं कहा जा रहा। नैम्बार्के का विग्रह वाक्य है 'निम्बार्क स्मेदं नैम्बार्क मतं तस्मिन् नैम्बार्के मत'। ईदृशः अर्थात् शुद्धाद्वैत जैसा जगत् और ब्रह्म का ऐक्य बोधक मार्ग नहीं है।।४२।।

भास्कराचार्यमतमाहुः—

आभासार्थ—भास्कराचार्य का मत कहते है

सोपाधिको भास्करे हि स्वस्माद्भिन्नस्तु सर्वथा।।
भेदपक्षे तु जीवानां सुखदुःखादिदानतः।। ४३।।
वैषम्यनैर्घृण्यसंज्ञे दूषणे द्वे परे स्थिते।।
अनादिकर्म चाश्रित्य समाधाने त्वनीशता।। ४४।।

श्लोकार्थ — भास्कराचार्य के मत में सोपाधिक भेदाभेद है। वह अपने मत (शुद्धाद्वैत) से सर्वथा भिन्न हैं भेद में जीवों को सुख दुःख देने से ईश्वर में विषमता नैर्घृण्य (निर्दयीपन) नाम के दो दूषण होंगे। यदि सुख दुःख को देने वाला अनादि कर्म है, उसका यदि सहारा लेकर समाधान करोगे तो ब्रह्म में अनीश्वरता आ जायेगी।।४३।।-।।४४।।

सोपाधिक इति।। तदनन्यत्वाधिकरणे। वाचारम्भणवाक्यव्याख्याने कारणमेव हि कार्यात्मनाऽवतिष्ठते। मृत्समन्वितं हि त्रिष्वपि कालेषु कार्य नाश्वमहिषवद्देशतः कालतो वा व्यतिरिक्तमुपलभ्यते। कारणस्यावस्थामात्रं व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तम्। शुक्तिरजतवदागमापायधर्मत्वात्। अनृतमनित्यमिति च व्यपदिश्यते। तदर्थमेव मृत्तिकेत्येव सत्यमित्युक्तम्। भेदस्त्वौपाधिक इति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेराप इत्यादिक्रमेण। जीवस्योत्पत्तेरनुक्तत्वाद्, अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः, अविनाशी वा अरेऽयमात्मेत्यादिश्रुतीनामन्यथा कर्त्तुमशक्यत्वेन चोपाधिकृतभेदाभिप्रायेण विस्फुलिङ्ग श्रुतिर्विपरिणेयेत्यङ्गकृत्याणुत्वं संसारदशायां लिङ्ग शरीराभिप्रायेण मनसो लिंगस्य चाणुत्वाद्, वस्तुतो व्यापक इति चांगीकृत्य जीवस्यांशत्वम् उपाध्यवच्छिन्नत्वेनांगीकृतम्। तथाच ब्रह्मणो निरवयत्वमिति। यथाग्नेरिति श्रुतौ दृष्टान्तकथनेन

यथाऽऽकाशस्य पार्थिवाधिष्ठानावच्छिन्नं कर्णच्छिद्रं तथा जीवोऽति ब्रह्मणो भिन्नभिन्नस्वरूपम्। अतस्तस्य भिन्नरूपमौपाधिकमभिन्नरूपं तु स्वाभाविकमित्यादिप्रतिपादितं भास्कराचार्येरतस्तेषां मते सोपाधिको भेदाभेद इत्यर्थः।।

स्वमतादतिरेकमाहुः।। स्वस्मादिति।। स्वमेत जीवस्याणुत्वं वास्तवम् एषाऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इति श्रुतेः। लिंगशरीराभिप्रायकथनेन लक्षणांगीकारे गौरवाज्जीवाभावाच्च। एष, महानज आत्मेत्यादिव्यापकश्रुतीनां ब्रह्मप्रकरणस्थत्वात्। अत एव, नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतधिकाराद्इति तत्त्वसूत्रं संगतं भवति। सूत्रार्थस्तु, जीवोऽणुर्न। अतच्छ्रुतेः। अणुत्वाभावस्य महत्त्वस्य श्रुतेः, एष महानित्यादिनेति चेन्नेतराधिकारात्। इयं श्रुतिर्ब्रह्माधिकारे पठिता तस्मादित्यर्थः। विस्फुलिंगश्रुत्या जीवस्योद्गम एवोच्यते, नोत्पत्तिरिति सिद्धान्तादतो नोनित्यतेति। नाप्यजो। नित्य इत्यादि श्रुतिविरोधः। आकाशादिसृष्टौ तु क्रमेणोत्पत्तिः। तत्राप्यन्नात् पुरूषः स वा एष पुरूषोऽन्नरसमय इत्युक्तेर्जीवस्य प्रादुर्भावोक्तेः। तच्छब्देनोपादानाद् विस्फुलिंगन्यायेन तु सर्वस्योत्पत्तिरेकरीत्या। उपाधिकल्पनायां प्रमाणाभावः। व्यापकत्वं तु ब्रह्मत्वेनोत जीवत्वेन? आद्येशंकरमतप्रवेशः। द्वितीये नैयायिकमतप्रवेशेनौपाधिक भेदस्य निरासेन स्वमतप्रच्युतिः। किञ्च व्यापकत्वे देवदत्तेनाम्रे भक्षिते यज्ञदत्तस्यापि तद्रसानुभवापत्तिः। आत्ममनः संयोगकारणस्यतत्रापि सत्त्वात् किञ्च जीव ब्रह्मणोर्व्यापकत्वे नियम्यनियामकश्रुतिविरोध इति दिक्।।

नचाणुत्वे सकलशरीरचैतन्यानुपलम्भः। प्रभावदुपपत्तेरित्यादि पूर्वमुदितम्। स्वमते भेदस्तु सुवर्णखण्डवदंशांशिभावेन स्पष्ट एवेति

पूर्वापरावलोकनेन महद्वैलक्षण्यमत आहुः।। सर्वथेति।।

एवं भास्करमतं दूषयित्वा वास्तविकभेदे दूषणमाहुः।। भेद पक्षे त्विति।। भेदपक्षे तावदपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवति सौम्य यथेकेन मृत्पिण्डेन सर्वे मृण्मयं विज्ञातमित्यादिषु श्रुतिषु सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा मृत्पिण्डदृष्टान्तश्च विरूद्ध्यते॥ ४३॥

किञ्च, कस्यचित् सुखं कस्यचिद्, दुःखमिति वैषम्यम्। परक्लेशाभावकरणसामर्थ्यवत्त्वे तदकरणं नैर्घृण्यम्।। परे ब्रह्मणि।। ननु स्वार्जितकर्मणा प्राप्तं सुखं दुःखं भुज्यते। उत्तरोत्तरकर्मणः पूर्वं पूर्वं कर्म निमित्तम्। कर्मणश्चानादित्वान्नेश्वरे दोषप्रसक्तिरतआहुः।। अनादिककर्मेति।। कर्मण एव फलदातृत्वे ईश्वरस्याऽप्रयोजनतयाऽनीश्वरवादापत्ति कर्मणो जडत्वेन पदनुसारेण फलभोक्तृत्वमीश्वरेऽङ्.गीक्रियते तर्हीश्वरस्य कर्माधीनत्वेन स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वानुपपत्तावीशत्वासिद्धिः। यत्र तु कर्मानुसारेण फलभोक्तृत्वमुक्तं तत्रापि कर्मकारयितृत्वमीश्वरस्यैव। तथाह श्रुतिः। तमेव साधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य ऊर्ध्वमुन्निनीषति। तमेवासाधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषतिती। एतेन साधुकारी पापो भवतीतिश्रुतौ भगवत्प्रेरणया साधुपापकर्तृत्वं बोध्यम्। तमेवेतिश्रुत्युनुरोधात् अत एव, कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादितिसूत्रेण विध्यादिबोधितकर्मकर्तृत्वं जीवस्य। विध्यादिशास्त्रार्थो जीवोद्देशेन प्रवृत्त इति कर्तृत्वं जीवस्योक्त्वा, स्वतो वा भगवत्प्रेरणया वेति संशये, परात्तु तच्छ्रुतेरितिसूत्रेण परादीश्वरात् तस्य कर्तृत्वस्य श्रुतेरिति समाधानं सङ्.गच्छते तस्मात् कर्माश्रयत्वेन समाधाने त्वनीशत्वापत्तिः।।४४।।

का प्रादुर्भाव कहा है। तत् शब्द के उपादान से विस्फुलिंगन्याय से तो सबकी उत्पत्ति एक रीति से कही है। उपाधि की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। जीव को व्यापकता ब्रह्म रूप से मानते हो या जीव रूप से? यदि ब्रह्म रूप से मानते हो तो शंकर मत में प्रवेश होगा। यदि जीव रूप से? यदि ब्रह्म रूप से मानते हो तो शंकर मत में प्रवेश होगा। यदि जीव रूप से जीव को व्यापक मानते हो नैयायिक मत में प्रवेश होगा, तो आपके औपाधिक भेद का निराश होने से अपने मत से आप च्युत हो गये। यदि आप जीव को व्यापक मानते हो तो देवदत्त के आम खाने पर यज्ञदत्त को भी उस आम के रस का अनुभव होना चाहिये आत्मा और मन के संयोग का कारण वहाँ भी है। और एक दोष यह आयेगा कि जब जीव और ब्रह्म दोनों ही व्यापक हैं तो नियम्यनियामक श्रुति का विरोध होगा श्रुति जीव को नियम्य कहती है और ब्रह्म को नियामक जब दोनों ही व्यापक हैं तो नियम्य नियामकता कैसे हो सकती है?

यदि ऐसा कहो कि जीव में अणुता है तो उसकी चेतनता सम्पूर्ण शरीर में उपलब्ध नहीं होगी तो इसका उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि एकत्र स्थित रहते हुए भी प्रभाव से उसका चैतन्य सर्वत्र होता है। हमारे मत में तो सुवर्णखण्ड की तरह अंशांशिभाव जीव ब्रह्म में है इसलिये पूर्वा पर का विचार करने पर भास्कर मत से हमारे मत में बहुत ही विलक्षणता है, उस बात को बताने के लिये ही 'सर्वथा भिन्नः' ऐसा कहा।

इस प्रकार भास्कर मत को दूषित कर वास्तविक भेद में दूषण कहते हैं भेद पक्ष में 'क्या तेने अपने अपने गुरू से यह पूछा था कि जिसके द्वारा नहीं 'सुना हुआ भी सुना जाय नहीं

जाना हुआ भी जान लिया जाय, हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से मिट्टी के बने हुए घड़े, सिकोरे आदि जाने जा सकते है, इत्यादि श्रुतियों में जो एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की है और मिट्टी का दृष्टान्त दिया है वह सब विरूद्ध हो जायेगा।

भेद पक्ष में यह दोष आता है कि कोई जीव तो सुखी है और कोई जीव दुःखी है, ऐसी विषमता क्यों ? जिन भगवान् में दूसरों के दुःख को दूर करने का सामर्थ्य होते हुए भी उनका दुःख दूर नहीं करते तो भगवान् निर्दयी है इस तरह भगवान् में वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष आजायेगे। यदि कहो कि अपने कर्म के द्वारा प्राप्त सुख दुःख का वे भोग करते है और उत्तरोत्तर कर्मो में पूर्व कर्म निमित्त होते हैं कर्मो के अनादि होने से ईश्वर में वैषम्य–नैर्घृण्य दोष नहीं आयेगा यदि कर्म ही फल देने वाला हो गया तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता होगी ? ऐसा मानने पर तो अनीश्वरवादी कहलाओगे। कर्म के जड़ होने से उस कर्म के अनुसार फल भौक्तृत्व ईश्वर में अंगीकार करोगे तो ईश्वर के कर्माधीन होने से स्वतन्त्रता का अभाव होगा तो ईश्वर में कर्तृत्व और ईशत्व की सिद्धि नहीं होगी अर्थात् स्वतन्त्र ही कर्त्ता हो सकता है और स्वतन्त्र हो वही ईश्वर हो सकता है वह तुम्हारे सिद्धान्त से कर्म अधीन होने से नहीं होगा। जहां कर्म के अनुसार फलभोक्ता ईश्वर कहा है वहां कर्म को कराने वाला भी ईश्वर ही है ऐसा कहा है। तमेव साधुकर्म कारयति' जिसका भगवान् लोकों से ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराना चाहते हैं उनसे अच्छे कर्म कराते है और जिनको अधोगति कराना चाहते हैं उनसे दुष्ट कर्म कराते हैं। अच्छे काम

व्याख्यार्थ –'तदनन्यत्व–' इस व्यास सूत्र में 'वाचारम्भण' वाक्य व्याख्यान में कारण ही कार्यात्म रूप से अवस्थित है। कार्य (घड़ा) आदि, मध्य, अवसान अथवा उत्पत्ति, स्थिति, लय इन तीनों ही काल में अश्व–महिष की तरह देश से अथवा काल से अतिरिक्त उत्पन्न नहीं होता। व्यतिरिक्त कारण से (अलग) अव्यतिरिक्त (कारण रूप) यह केवल कारण की अवस्था है। शुक्ति (सीप) रजत (चांदी) की तरह आगमापाय धर्म होने से असत्य है ऐसा कहा जाता है उसके लिये यहाँ 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ऐसा कहा, भेद तो औपाधिक है। जिस प्रकार ब्रह्म से आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की उत्पत्ति कही उस तरह से जीव की उत्पत्ति नहीं कही है, क्योंकि जीव तो 'अज (नहीं उत्पन्न होने वाला) नित्य, शाश्वत, पुराण' है। 'अरे यह आत्मा तो अविनाशी है' इत्यादि श्रुतियों को तो बदल नहीं सकते। अतः उपाधिकृत भेद के अभिप्राय से विस्फुलिंग श्रुति का अर्थ बदलकर इस तरह से करना चाहिये कि संसार दशा में जीव में अणुता लिंग शरीर के अभिप्राय से कही है, क्योंकि मन का परिचय अणु रूप से है। वस्तुतः तो जीव व्यापक है ऐसा अंगीकार करके जीव का अंशत्व उपाधि से अंगीकार किया है। ऐसा करने से ब्रह्म में निरवयवता रहती है। 'यथाग्ने' इस श्रुति में कहे गये दृष्टान्त से ऐसा समझना चाहिये कि जैसे पार्थिव शरीर में रहने वाले, कान के छेद में जो आकाश है वह नित्य आकाश से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। उसी तरह यह जीव भी ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। अतः जीव का भिन्न रूप तो औपाधिक जीव रूप (उपाधि से) है और अभिन्न रूप स्वाभाविक है, ऐसा भास्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है। अतः उनके मत में सोपाधिक भेदाभेद है।

उन भास्कराचार्य का मत अपने (शुद्धाद्वैत) मत से भिन्न है। अपने मत में जीव का अणुत्व वास्तविक है क्योंकि 'एषो ऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः इस श्रुति से जीव जीव की अणुता स्पष्ट रूप से जानी जाती है। लिंग शरीर के अभिप्राय से जीव को अणु कहा है, इस कथन की पुष्टि के लिये लक्षणा को अंगीकार करना इस में गौरव होता है और लिंग शरीर में जीव का अभाव होता है तो फिर लिंग शरीर के अभिप्राय से जीव को अणु कहा है, यह कैसे उचित होगा ? और 'एष महानजः आत्मा' इत्यादि जो व्यापक श्रुतियां हैं वे तो ब्रह्म प्रकरण में स्थित है इसलिये उनसे जीव की अणुता का खण्डन नहीं होता। तत्वसूत्र में भी उक्त श्रुति का अभिप्राय उक्त प्रकार का है, यह स्पष्ट किया है 'नाणुरतच्छ्रुतेरित चेन्नेतराधिकारात्' इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है – 'जीव अणु नहीं है क्योंकि श्रुति अणुत्व के अभाव महत्व का बोधन कराती है, जैसे 'एष महान्' इत्यादि। यदि ऐसा कहते हो तो ठीक नहीं, क्योंकि 'इतराधिकारात्' वह श्रुति इतर अधिकार (ब्रह्म प्रकरण) में पढ़ी गई है, इसलिये इस श्रुति से जीव में अणुता सिद्ध नहीं होती।

विस्फुलिंग श्रुति से जीव का उद्गम मात्र कहा जाता है उत्पत्ति नहीं कही जाती ऐसा सिद्धान्त होने से जीव में अनित्यता नहीं है और न 'अजो नित्यः' इत्यादि श्रुति का विरोध होता है और जो यह कहा था कि आकाश आदि की उत्पत्ति कह उस तरह जीव की उत्पत्ति नहीं कही इसलिये जीव अज, नित्य शाश्वत आदि है यह कथन भी ठीक नहीं, सृष्टि में आकाश आदि उत्पत्ति तो क्रम से कही है वहीं पर अन्नात्पुरूषः' स वा एष पुरूषोऽन्नरसमयः' अन्न से प्रादुर्भाव होता है इसलिये पुरूष अन्न रस मय है इस श्रुति में जीव

करने वाला साधु है पाप कर्म करने वाला पापी होता है' इस श्रुति में भगवान् की प्रेरणा से साधुता और पापकर्तृता जानी जाती है। क्योंकि 'तमेव' ऐसा श्रुति का अनुरोध है। अतएव 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इस व्यास सूत्र से विधि आदि के द्वारा बोधिवत कर्म को करने वाला जीव है ऐसा कहा है। यहां भी एक प्रश्न होता है कि विद्यादि शास्त्रार्थ जीव के उद्देश्य से प्रवृत्त हुआ है इसलिये जीव में कर्तृत्व है यह ठीक है परन्तु जीव में कर्तृत्व स्वतः है अथवा ईश्वर की प्रेरणा से इस संदेह में 'परात्तुतच्छ्रुते' इस सूत्र से संदेह निराकरण होता है अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से उस में कर्तृत्व है ऐसा श्रुति का समाधान संगत होता है। कर्म की अधीनता से समाधान करने पर अनीशता की आपत्ति होगी।।४०-४४।।

अत्र सर्वेषां मतस्य दुष्टत्वेन तेषां नामान्याहुः

आभासार्थ- यहां पर सभी के मत दूषित हैं उनके नाम गिनाते हैं-

अत्रापि शाङ्.कराः शैवा माध्वा रामानुजादयः।।४५।।
निम्बार्का भास्करा भिक्षुयेऽन्ये ते दोषसंश्रिता।।

श्लोकार्थ- यहाँ पर शाङ्कर, शैव, माध्व, रामानुज आदि निम्बार्क, भास्कर, भिक्षु ये तथा अन्य भी दोष युक्त है।।४५।।

अत्रापीति।। कर्माश्रयत्वेन परिहारेऽपि।। शबलस्य ब्रह्मणो दोषपरिहाराय कर्माश्रयेण समाधानं शङ्.कराचार्यैः कृतम्। शैवो रामानुजमततस्करो विशिष्टाऽद्वैतवादी। तस्य मतं त्वग्रे विवेच्यम्। भिक्षुमतमप्यग्रे।। दोषसंश्रिता इति।। ईश्वरेऽनीश्वरापत्तिरूपदोषविशिष्टा इत्यर्थः।।४५।।

व्याख्यार्थ– शबल ब्रह्म में वैषम्य नैघृण्य दोष के परिहार के लिये कर्माश्रय से समाधान शङ्कराचार्य ने किया है शैव तो रामानुजमत के तस्कर है विशिष्टाद्वैतवादी हैं शैवमत का विवेचन आगे किया जायेगा। भिक्षु मत का विवेचन भी आगे है 'दोष संश्रिताः' का आशय है कि इनके माने हुए सिद्धान्त से ईश्वर में अनीश्वरता की आपत्ति होती है अतः ये सब दोषयुक्त हैं ॥४५॥

ननु तर्हि सिद्धान्तेऽपीमौ दोषौ स्थितौ ?, नेत्याहुः–

आभासार्थ – शंका करते हैं कि सिद्धान्त में अर्थात् शुद्धाद्वैत मत में भी ये दोष होंगे तो उत्तर देते हैं कि नहीं –

आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते ।।
श्रीमदाचार्यचरणैर्निबन्ध इदमीरितम्।।४६।।
श्रीमत्प्रभुवरैर्विद्वन्मण्डनेऽपि निरूपितम् ।।
रमणार्थमिदं विश्वमुच्चनीचादिभावतः ।।४७।।
आत्मरूपं चकाराऽतो हरिर्यस्मान्न दूषणम् ।।
शक्ति शक्तिमतोर्भेदाभेदो यः स न बाधकः।।४८।।
तत्र भेदो न चैवास्ति शक्तेर्ब्रह्मत्वनिश्चयात् ।।
भिन्नत्वे तु जडत्वं स्याद् भेदो यो बोधनाय सः।।४९।।
धर्मधर्मिविचारेऽपि ज्ञेयमेवं विचक्षणैः ।।
प्रकाशाश्रयदृष्टान्तेऽप्यभेदो बोध्यते किल।।५०।।

श्लोकार्थ– हमारे मत में तो आत्मसृष्टि होने से अर्थात् स्वयं भगवान् ही जगद्रूप बने हैं इसलिये वैषम्यनैर्घृण्य दोष नहीं है यह श्रीमदाचार्यचरणों ने निबन्ध में कही है और श्रीमत्प्रभुवर विट्ठलनाथजी ने विद्वन्मण्डन में भी इसका निरूपण किया है। भगवान् ने ही रमण के लिये आत्म रूप इस जगत् का उच्च–नीच

भाव किया इसलिये कोई दोष नहीं है (जैसे कोई व्यक्ति हाथ को सिर के नीचे रखकर सोता है उसे कोई विषय और निर्दयी नहीं कहता उसमें भी विषमता तो है कि उसने सिर को ऊपर रक्खा है और हाथ को नीचा रक्खा है परन्तु यह तो सारा शरीर ही उसका है इसलिये उसे कोई विषम या निर्दयी नहीं कहता ठीक उसी तरह भगवान् भी अपनी क्रीड़ा के लिये उच्च–नीच भाव करते हैं इसलिये भगवान् में विषमता अथवा निर्दयता नहीं है) शक्ति और शक्तिमान् का जो भेदाभेद है वह अभेद का बाधक नहीं है कारण कि शक्ति जब ब्रह्मरूप है तो वह भेद है कहाँ यदि शक्ति को ब्रह्म से अलग मानोगे तो शक्ति में जडत्व हो जायेगा। शक्ति और शक्तिमान ऐसा जो भेद लिखते हैं वह तो केवल समझाने के लिये है।।४६।।।।४७।।।।४८।।।।४६।।

आत्मसृष्टेरिति।। तदात्मान् ँ स्वयमकुरूतेतिश्रुत्या ब्रह्मैव जगदाकारेण स्वेच्छयैव रमणार्थमुच्चनीचादिभावेन जातमिति बोधितमतोऽभिन्नत्वान्न वैषम्यं, नापि नैर्घृण्यमित्यर्थः।। निबन्धे शास्त्रार्थे।।४६।।

विद्वन्मण्डने इति।। तत्र हि पूर्वं जीवानामानन्दादितिरोधाने मिथ्याज्ञानादिप्रसक्तावुपस्थितहान्यकृताभ्यागमदोषपरिहाराय स्वेच्छाया एव हेतुत्वमुक्त्वाऽन्यथा जगत्स्थितिसंहारेऽपि इमौ दोषौ प्रसज्ज्येयातामित्युक्त्वैतत्साधकयुक्तीर्विस्तरशो निरूप्य, कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इति सूत्रमुपन्यस्य, एकोऽहं बहु स्यामिति प्रपञ्चे रमणेच्छया हि भगवान् क्रीडार्थं कृतः प्रयत्नो विविधमर्यादादिरूपस्तदपेक्षः। जन्मकालादारभ्याऽऽमोक्षं विचारितवान् तदा ही क्रीडैव मुख्याऽन्यत् सर्व मुपसर्जनीभूतम्

तथाच तदपेक्षो भगवांस्तदनुसारेणैव कारयति। यतो विहितस्य यागादेः प्रतिषिद्धस्य विप्रहननादेरवैयर्थ्यमेवं भवेत् मर्यादाभावे त्वीश्वरस्यैव स्वर्गनरकादिदातृत्वेन विधिनिषेधवैयर्थ्यं भवेदित्युक्तम्। अतः कृताहानिरकृताभ्यागमवैषम्यनैर्घृण्यादिरूपदूषणे नेत्यर्थः।।४७।।

व्याख्यार्थ :– तदात्मान ँ स्वमकुरुत उस ब्रह्म ने अपने ही को जगत् रूप में प्रकट किया है इस श्रुति से जगत् के आकार में अपनी इच्छा ही से रमण के लिये उच्च नीच आदि भाव से हुआ है, ऐसा बोधित किया है। अतः जगत् के ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण वैषम्य नहीं होता और न नैर्घृण्य (निर्दयता) ही यह निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण में कहा हैं।

विद्वन्मण्डल में ऐसी शंका की है कि भगवान् ने जीव में आनन्द अंश का तिरोधान कर दिया तो उसमें मिथ्या ज्ञान की प्रसक्ति हुई जिससे जीव में उपस्थित जो नित्य सिद्ध धर्म था उस की तो हानि हो जायेगी और अकृत कर्म सम्बन्धी फल की प्राप्ति हो जायेगी और अकृत कर्म सम्बन्धी फल की प्राप्ति होगी तब उसके उत्तर में यह कहा कि जीव जब स्वतन्त्र हो तब ये दोष उस में आ सके किन्तु यह आनन्दांश तिरोधान जब भगवदिच्छा से हुआ है उसी से उसमें उपस्थित धर्म की हानि और अकृत का अभ्यागम हुआ तो इस में जीव निर्दोष ही रहता है। यदि भगवदिच्छा को कारण न माना जायेगा तो जगत् की स्थिति में तथा संहार में भी उपस्थित (नित्यत्व) की हानि अकृत का अभ्यागम दोष उपस्थित होगा, ऐसा कहकर इसकी साधक युक्तियों का विस्तार निरूपण किया है। फिर 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' इस सूत्र का उपन्यास कर 'एकोऽहं बहुस्याम्' अकेला मैं ही अनेक रूपों में हो आऊं इस तरह के प्रपञ्च में रमण की जब भगवान् की

इच्छा हुई तब भगवान् ने विविधमर्यादिरूप क्रीड़ा की अपेक्षा से ऐसा प्रयत्न किया और जन्म काल से लेकर मोक्षपर्यन्त सब का विचार किया तब क्रीड़ा ही उस में मुख्य हुई और सब गौण हो गया, अतः क्रीड़ा की अपेक्षा से ही भगवान् क्रीड़ा के अनुसार ही सब कार्य करवाते हैं, इसलिये तो विहित यागादि और निषद्ध जो ब्रह्महनन है उसके करने से क्रमशः स्वर्ग प्राप्ति और नरक गमन होता है। यदि भगवान् विविध मर्यादादिरूप क्रीड़ा की अपेक्षा न रखते और मर्यादा का अभाव होता तो ईश्वर ही स्वर्ग नरक का देने वाला होता जिससे विधि निषेध व्यर्थ हो जाते यह सब कहा, अतः कृतहानिअकृताभ्यागम तथा वैषम्यनैर्घृण्य ये दूषण नहीं होते॥४७॥

एवं प्रासगिकं वैषम्यादिदोषं परिहृत्य शक्तिशक्तिमतार्भेदाऽभेदं परिहरन्ति – शक्तिशक्तिमतोरिति॥४८॥

इस प्रकार प्रासङि्.गक वैषम्यादि दोषों का परिहार शक्ति–शक्तिमान् में होने वाले भेदाभेद का परिहार 'शक्ति शक्तिमतोः' इससे किया है॥४८॥

तत्रेति। ब्रह्मणीत्यर्थः॥४६॥

'तत्र भेदो' में आये हुए तत्र का अर्थ है ब्रह्म में॥४६॥

ननु, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादितिन्यायेन प्रकाशप्रकाशाश्रययोर्भेदाभेद इतिचेत्तत्राहुः–

आभासार्थ – शंका करते हैं कि 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' इस ब्रह्म सूत्र से प्रकाश और प्रकाश के आश्रय में भेदाभेद होता है, ऐसा यदि कहते हो तो उसके लिये कहते हैं –

श्लोकार्थ– धर्म और धर्मी के विचार में भी विद्वानों को ऐसे ही समझना चाहिये। प्रकाशाश्रय दृष्टान्त में भी अभेद ही बोधित होता है॥५०॥

प्रकाशाश्रयेत्यादि।। सूत्रार्थस्तु, ब्रह्मधर्मा भिन्ना, उताभिन्ना इतिसंशये धर्माणां नित्यत्वेन भिन्न इति प्राप्ते, आह प्रकाशेत्यादि। वाशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशतो न भिन्ना एवं ब्रह्मधर्मा ब्रह्माऽभिन्नाः। तेजस्त्वात् यथा तेजः सूर्यश्च तेज एव। सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्ययो रसघन एवं वारेऽयमात्मा प्रज्ञानघन एवेति श्रुत्या एकरूपत्वकथना दत्रापि तेजस्त्वदृष्टान्तेन सर्वं ब्रह्मैवेति धर्मिधर्माऽभेद एवेति बोध्यते॥५०॥

व्याख्यार्थ –'प्रकाशाश्रयेद्वा तेजस्त्वात्' ऐसा ब्रह्मसूत्र है उसका अर्थ इस प्रकार है। पूर्व ऐसा संदेह होता है कि ब्रह्म के धर्म भिन्न हैं अथवा अभिन्न धर्म जब नित्य हैं तो भिन्न ही होंगे ऐसा जब प्राप्त हुआ तो सूत्र में बताया कि प्रकाशवत् वा इस में वा शब्द तो पूर्व पक्ष का निरास करने के लिये है प्रकाशवत् अर्थ है जैसे प्रकाशाश्रय सूर्य आदि प्रकाश से भिन्न (अलग) नहीं इसी तरह ब्रह्म के धर्म ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसमें हेतु है तेजस्त्वात् जैसे तेज और ही 'सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्मो रसघन एवं वारे ममात्मा प्रज्ञानघन एवं' सैन्धव का डेला बाहर एवं भीतर रसरूप है इसी तरह वह आत्मा भी प्रज्ञाना (ज्ञान) घन है इस श्रुति से एक रूपता कही गई हैं उसी तरह यहाँ भी तेजस्त्व दृष्टान्त से सभी ब्रह्म ही हैं धर्मी और धर्म में एकता है ऐसा बोधित किया है॥ ५०॥

धर्माणां ब्रह्मत्वे द्वितीयं सूत्रं प्रमाणमाहुः–

आभासार्थ – धर्मो की ब्रह्मता में द्वितीयसूत्र का प्रमाण कहते हैं –

अरूपवत्सूत्रवाक्ये धर्माणामपि ब्रह्मता।।

निरूपित प्रभुवरैः श्रीविद्वन्मण्डने स्फुटम्।।५१।।

श्लोकार्थ– प्रभुवर श्रीविट्ठलनाथजी ने विद्वन्मण्डन में 'अरूपवत्' सूत्र के वाक्य में धर्मो की ब्रह्मता स्पष्टनिरूपण की है।।५१।।

अरूपवदित्यादि।। सूत्रं तु, अरूपदेव हि तत्प्रधानत्वादिति। तत्र सूत्र इत्यर्थः। अर्थस्तु, रूप्यते व्यवह्रियत इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्। तद्वाद्विश्वम्। तद्विलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः। अथवा रूप्पते व्यवह्रियतेऽनेनेति रूपं कुराद्युच्यते। यथा लोके करादि भिन्नं तदाभिमानी रूपवद्भिन्नः। एवं ब्रह्म न निरूप्पयते, किन्तु ब्रह्मैव निरूप्यत इति रूपवदित्यर्थः। तत्राह। तत्प्रधानत्वात्। सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मैव प्रतिपाद्यं, यतः करादीनामपि ब्रह्मत्वेनैव निरूपणम् अन्यथा तेषामब्रह्मत्वे, सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति, वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्य इति नियमव्याहतिरतः करादिनिरूपकाः साक्षाद् ब्रह्मप्रतिपादका एवेति। हि युक्तोऽयमर्थः यथा सैन्घवघन इति, सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति, आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरिति, आनन्दमयोऽयासादिति श्रुतिस्मृतिन्यायैकवाक्यतया सच्चिदानन्दरूपत्वं करादीनामवधेयम्। अत एव, आह च तन्मात्रमिति सूत्रकारो जगाद्। अर्थस्तु, तन्मात्रम् आनन्दमात्रं करादीनां श्रुतिः स्मृतिश्चाहेति श्रीविद्वन्मण्डऽने धर्माणां ब्रह्मता स्फुटं निरूपितेत्यर्थः। योगियाज्ञवल्क्यस्मृतावपि, अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहमित्युक्तम्।।५१।।

व्याख्यार्थ – :अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' ऐसा ब्रह्मसूत्र है,

इस में रूप शब्द का अर्थ है (रूप्यते व्यवह्रियत इति रूपम् जो सब व्यवहार का विषय हो वह हुआ विश्व और विश्व से जो विलक्षण है वह हुआ ब्रह्म अर्थात् अरूप का अर्थ है ब्रह्म अथवा (रूप्यते व्यवह्रियते अनेन इति रूपम) रूप का अर्थ हाथ आदि जैसे लोक में करादि से भिन्न उसका अभिमानी रूपवद्भिन्न होता है इस तरह ब्रह्म का निरूपण नहीं है किन्तु ब्रह्म ही का निरूपण किया जाता यह रूपवत का अर्थ हैं ऐसा क्यों है? उसके लिये कहते है कि 'तत्प्रधानत्वात्' सब वेदान्तों का प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है क्योंकि कर आदि का भी ब्रह्मता से ही निरूपण है। यदि कर आदि में ब्रह्मता न हो तो 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इस नियम में आघात होगा अतः कर आदि के करने वाले भी साक्षात् ब्रह्म के ही प्रतिपादन करने वाले हैं।। हि का अर्थ है ऐसा ही अर्थ इस का उचित है जैसे 'सैन्धवघनः' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इन श्रुति स्मृति सूत्रों की एकवाक्यता से कर आदि की सच्चिदानन्दरूपता है, इसलिये सूत्रकार ने 'तन्मात्रम्' ऐसा कहा है। तन्मात्रम् का अर्थ है आनन्दमात्र कर आदि को श्रुति स्मृति आनन्दरूप कह रही है इस तरह धर्मो की ब्रह्मता श्रीविद्वन्मण्डन में स्पष्ट रूप से निरूपित है योगियाज्ञ्यवल्क्य स्मृति में भी 'अथवा परमात्मान परमानन्दविग्रहम्' परमात्मा के विग्रह कर आदि को आनन्दरूप बनाया है।।५१।।

अतः परं रामानुजाचार्यमतमेकदेशीति सूचयितुं स्वमत तन्मते प्रविष्टमित्याशङ्क्य स्वमतस्य तस्मादतिरेकं साधयन्ति –

आभासार्थ– अब आगे रामानुजाचार्य का मत एक देशी है इस को सूचित करने के लिये स्वमत भी रामानुजमत में प्रविष्ट हो

जाता है ऐसी आशंका कर स्वमत को उस (रामानुज मतों से) अतिरिक्त सिद्ध करते है।

अथ श्रीमन्निजाचार्यैर्निबन्ध इदमीरितम्।।
यः सर्वत्रैव संतिष्ठन्नन्तरः संस्पृशेन्न तत्।।
शरीरं तं न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते।।५२।।
इति तेन शरीरं तु हरेर्हि चिदचित् स्मृतम्।।
जडजीवान्तः स्थितानां भेदेन सुनिरूपणैः।।५३।।

श्लोकार्थ – श्रीमान् निजाचार्य (श्रीवल्लभाचार्यजी) ने निबन्ध में कहा है कि 'जो ब्रह्म सब जगह अन्तर स्थित है और वह देहादि से स्पर्श नहीं करता है (अर्थात् अन्तर्यामी रूप से स्थित है) और शरीर उसे नहीं जानता है (अर्थात् जड रूप है) और जो शरीर में प्रवेश करके प्रकाश करता है (अर्थात् जीव रूप है) अतः भगवान् का शरीर चित् अचित् है इसीलिये जड, जीव, अन्तःस्थ इन भेदों से निरूपित है।।५२-५३।।

अथेत्यारभ्य, विचक्षणैरित्यन्तम्।। निबन्ध इति।। शास्त्रार्थे इत्यर्थः।। यः सर्वत्रेति।। सर्वत्र पृथिव्यादिषु। अन्तरो मध्यः तत् पृथिव्यादि न संस्पृशेल्लोकवत् तद्गतसुखदुःखादिभाङ्.न भवतीत्यर्थः। शरीरं पृथिव्यादि कर्तृ, तम् ईश्वरं न जानाति। यः पृथिव्यादिषु प्रवेशं कृत्वा प्रकाशतः इत्यर्थः। तथाच श्रुतिः। य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः। पृथिवीमन्तरो यमयति। य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयतीत्यादि।।५२।।

इतीति।। निबन्धे यन्निरूपितं तेन तिरूपेणेनेति योजना।।५३।।

व्याख्यार्थ – जो सर्वत्र पृथिवी आदि में वह पृथिवी आदि का स्पर्श नहीं करता है अर्थात् लोकवत् तद्गत सुख दुःख आदि का भागी वह नहीं होता हैं शरीर अर्थात् पृथिवी आदि उस ईश्वर को नहीं जानती हैं जो पृथिवी आदि में प्रवेश करके प्रकाशित होता है यह 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इस श्रुति का अभिप्राय है यह निबन्ध में निरूपित है।।५२।।५३।।

तत्त्वत्रयं समायाति विशिष्टाद्वैतवादिनाम्।।
रामानुजानामिति चेन्न दोषोऽस्मन्मते शृणु।।५४।।

श्लोकार्थ – उक्त निरूपण में विशिष्टाद्वैतवादि रामानुजों के मत में तत्त्वत्रय आते है हमारे मत में भी ये तत्त्वत्रय है परन्तु उनमें दोष नहीं आता है उसे सुना।।५४।।

तत्त्वत्रयमिति।। विशिष्टाऽद्वैतवादिनां तत्त्वत्रयं समायाति, स्वमत इति शेषः। विशिष्टाद्वैतमित्यस्य विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतमिति समासः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं कारणम्। स्थूलचिदचिद्विशिष्टं कार्यम् तयोरद्वैतमित्यर्थः।।५४।।

व्याख्यार्थ – विशिष्टाद्वैतवादियों के मत में तत्त्वत्रय आते है और हमारे मत में भी तीन तत्व है विशिष्टाद्वैत का समास इस प्रकार है 'विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टा द्वैतम् सूक्ष्मचित अचित् विशिष्ट कारण है और स्थूल चित् अचित् विशिष्ट कार्य है इन दोनों का अद्वैत है।।५४।।

जडजीवान्तरात्मान इति कार्ये भिदा श्रिता।।
बहुस्यां तु प्रजायेयेत्यादिश्रुतिषु वर्णनात्।।५५।
न कारणे भिदा ज्ञेया तत्रैकोऽहं निरूपणात्।।

आत्मैवेदमग्र आसीदित्यादिषु च दर्शनात्॥५६॥

श्लोकार्थ – बहुस्यां प्रजायेय' मैं अनेक रूपों में उत्पन्न हो आऊं इत्यादि श्रुतियों में वर्णन आया तदनुसार जड़, जीव, अन्तर्यामी रूप से कार्य में भेद हो गया परन्तु कारण में भेद नहीं है अर्थात् कारण तो एक ही है क्योंकि 'एकोऽहम्' मैं एक हूँ ऐसा वर्णन है और 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' सर्व प्रथम यह ब्रह्म ही था। इत्यादि श्रुतियों में देखा जाता है।।५५।।५६।।

कार्येभिदेति।। भेदोऽपि न घटपटवत्, किन्तु मृद्घटशराववत्।। रामानुजाचार्याणां तु वस्तुतो भेदः।।५५।।

तत्र कारणवस्थायाम् आत्मैवेत्येवकारेणाऽचितो निषेधात्।। इत्यादिषु–श्रुतिषु॥५६॥

व्याख्यार्थ– यहां पर भेद घड़े और कपड़े की तरह नहीं है किन्तु मिट्टी और घट शराव की तरह है रामानुजाचार्यो के यहां तो वास्तविक भेद है॥५५॥

'आत्मेवेदम्–' इस श्रुति में आये हुए इति शब्द से अचित् की कारणता का निषेध है॥५६॥

तत्रैकाकी न रमते द्वितीयेच्छा निरूपिता।।
श्रुतिविद्भिरतो ज्ञेयं ब्रह्मैकं नान्यदेव हि।।५७।।
अन्यस्य च स्थितौ तत्र द्वितीयस्य च सम्भवात्।।
रमणार्थं द्वितीयेच्छा श्रुत्युक्ता भग्नतामियात्।।५८।।
एकोऽहमित्यपि मुधा तस्माच्छ्रुतिविरोधतः।।
तत्त्वत्रयं कारणे हि त्याज्यमेव विचक्षणैः।।५९।।

श्लोकार्थ :– स एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्' वहअकेला रमण नहीं करता उसने दूसरे की इच्छा की ऐसा निरूपण होने से श्रुतिवेत्ताओं को जानना चाहिये कि ब्रह्म एक ही है द्वितीय नहीं है।।५७।।

यदि अन्य की वहां स्थिति होती तो द्वितीय की संभावना होने से श्रुति मे कही हुई रमण के लिये द्वितीय को चाहना वह अन्य हो जाती क्योंकि यदि दूसरा वहां होता तो दूसरे की इच्छा क्यों होती।।५८।।

और श्रुति में जो 'एकोहं' दिया है वह व्यर्थ होगा इसलिये श्रुतिविरोध होने से समझदारों को कारण में तत्त्वत्रय का त्याग करना ही चाहिये।।५६।।

नान्यदिति।। ब्रह्मातिरिक्तं नान्यदित्यर्थः।।५७।।५८।। त्याज्यं नाङ्.गीकर्त्तव्यमित्यर्थः।।५६।।

व्याख्यार्थ–नान्यत् का अर्थ है ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है।।५७।।५८।।

त्याज्यं का अर्थ है अंगीकार नहीं करना चाहिये।।५६।।

यत्र येनेति पद्ये तु निबन्धे सुनिरूपितम्।।
प्रकृतिः पुरूषश्चैव कालश्च हरिरेव हरिरेव हि।।६०।।

श्लोकार्थ – 'यत्र येन' इस पद्य में निबन्ध में सुन्दर निरूपण है कि प्रकृति, पुरूष और काल हरि ही है।।६०।।

यत्र येनेतीति।। पद्ये – पद्यव्याख्याने।। निबन्धेशास्त्रार्थे।। सुनिरूपितमिति।। श्रीमदाचार्यचरणै रिति शेषः। इदं पूर्वं निरूपितं पद्यं श्रीभागवतस्थं श्रीमदाचार्यचरणैर्निबन्धे स्थापितम्।।६०।।

व्याख्यार्थ – पद्ये=पद्य के व्याख्यान में। निबन्धे=निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण में। सुनिरूपितम् के साथ श्रीमदाचार्य चरणैः ऐसा और कहना था वह शेष रह गया है अर्थात् श्रीमदाचार्य चरणों ने सुन्दर निरूपण किया है। यह 'यत्र येन' आदि पद्य जिस का पहले निरूपण किया जा चुका है श्रीमद्‌भागवत् का है श्रीमदाचार्य चरणों ने इसे निबन्ध मे रख दिया है।।६०।।

एकमेवाद्वितीयं 'तु ब्रह्म सर्वत्र रूप्यते।।
यः सर्वत्रेवेति पद्येगोस्वामिपुरूषोत्तमैः।।६१।।
सृष्टिकाले भगवतः शरीरं चिदचित् स्मृतम्।।
अन्तर्यामिण एतेन विशिष्टाऽद्वैतमेव यत्।।६२।।
तदेकदेशि विज्ञेयमित्युक्तं तैर्विचक्षणैः।।
शैवोऽप्येतेन विध्वस्तो यतस्तच्चोर एव हि।।६३।।

श्लोकार्थ – सर्वत्र ब्रह्म का निरूपण एक अद्वितीय ही किया गया है और श्रीगोस्वामिपुरूषोत्तमजी ने 'यः सर्वत्रैव संतिष्ठन्' इस पद्य के विवरण में लिखा है कि सृष्टिकाल में अन्तर्यामी भगवान् का शरीर चित् अचित् कहा गया है इस से विशिष्टाद्वैत को एक देशी जानना इस से शैव मत भी ध्वस्त हो जाता है क्योंकि ये विशिष्टाद्वैत के चोर हैं।।६१।।६२।।६३।।

यः सर्वत्रेवेति पद्य इति।। निबन्धटीकाव्याख्याने आवरण भंग इत्यर्थः।।६१।।६२।।

व्याख्यार्थ –'यः सर्वत्रैव सतिष्ठन्' इस पद्य की निबन्धटीका आवरणभङ्ग व्याख्या में कहा है।।६१।।।६२।।

विचक्षणैरिति।। एतन्मतस्यैकदेशित्वनिरूपणेन बुद्धिमत्वरूपाकाङ्क्षाया उत्थिततत्वान्न समाप्तपुनराक्तदोषः। एवं रामानुजाचार्यमत। दूषयित्वा तत्तस्करमत खण्डनमाहुः।। शैवोऽपीति।। शैवस्तावद्विशिष्टाऽद्वैतमेवाङ्गीकृत्य, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् • तस्यावयभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगदितिश्वेताश्वरश्रुतिम्, आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिरिति स्मृतिं चोदाहृत्य ब्रह्मावयवत्वेन विशिष्टांशं जीवस्य प्रकृतेश्चाह। सर्वत्र शिवपरत्वेन श्रुतिस्मृतीराह च। स तु, एतेन – विशिष्टाऽद्वैत खण्डनेन।। मायां त्वित्यात्मेति श्रुतिस्मृती कार्याभिप्राये इति न दोषः। शिवपरत्वादिखण्डनं च श्री पुरुषोत्तमचरणैर्भाष्यप्रकाशे प्रहस्ताख्ये पण्डितकरिभिन्दिपालाख्ये च वादे निरूपितम्। ततोऽवलोकनीयम्।। तच्चोर इति।। रामानुजमतचोरः। क्वचिन्मध्वमतस्यापि। तदेवोक्तं श्री पुरूषोत्तमचरणैभाष्य प्रकाशे, रामानुजस्यैवचोरो मध्वमतस्य च क्वचित्क्वचित्तद्विरुद्धां शैवश्रुतिमुदाहरन् भिन्नप्रस्थानं मन्यत इति।।६३।।

व्याख्यार्थ– 'एकोवाद्वितीयंतु' यहां जिस का प्रारम्भ किया गया था उसकी समाप्ति 'तदेकदेशि विज्ञेयमित्युक्तं' यहां हो जाता है अब जो विचक्षणः ऐसा पद पुनः पढा गया है वह समाप्त पुनरात्त दोषदूषित है ऐसी आशंका हो सकती है किन्तु रामानुजमत के एकदेशित्व निरूपण से बुद्धि मत्वरूप आकाङ्क्षा उठती है इसलिये समाप्त पुनरात्त दोष नहीं है। यदि आकांक्षा का अभाव होता तो उक्त दोष होता। इस प्रकार रामानुजाचार्य के मत को दूषित करके उनके मत के चोर का खण्डन करते है 'शैवोपि' इससे शैव विशिष्टाद्वैत को अङ्गीकार करके 'मायां तु प्रकृतिं विद्यानमायिनं

तु महेश्वरम् तस्मावयभूतेन व्याप्तं सर्वमिदंजगत्' इस श्वेताश्वतर श्रुति को तथा 'आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः इस स्मृति का उदाहरण देकर जीव एवं प्रकृति के विशिष्टांश को ब्रह्म का अवयव कहा है और सर्वत्र श्रुति स्मृति को शिवपरक कहा है। वह शैवमत भी इस विशिष्टाद्वैत के खण्डन से खण्डित हो गया। 'मायातु प्रकृतिं' 'आत्मातस्य, ये श्रुति स्मृति तो कार्य के अभिप्राय में है इसलिये कोई दोष नहीं है और शिवपरत्व का खण्डन तो श्रीपुरूषोत्तमजी ने भाष्यप्रकाश में 'प्रहस्तंवद, में तथा 'पण्डितकरिभिन्दिपाल में किया है उसे वहां ही देख लेना चाहिये तच्चोरः=रामानुजमतचोर है। कहीं कहीं इन्होंने मध्वमत को भी चुराया है इसलिये श्रीपुरूषोत्तम चरणों ने भाष्यप्रकाश में रामानुजस्ययैव चोरो मध्वमतस्यचक्वचित्' अर्थात् शैव रामानुज के चोर हैं मध्वमत के चोर कहीं कहीं हैं। इसलिये कहीं उनके विरूद्ध शैव श्रुति का उदाहरण देते हुए भिन्न प्रस्थान मानते है।।६३।।

एवं शैवमतं दूषयित्वा विज्ञानेद्रभिक्षुमतखण्डनमाहुः—

आभासार्थ—विज्ञानेन्द्रभिक्षु के मत में ब्रह्म में मायोपाधिक कर्त्तृत्व देखा जाता है वह मत भी मायावादी (शंकरों) के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है।।।६४।।

मायोपाधिककर्तृत्वं भैक्षवे दृश्यते तु यत्।।
तन्मायिवादध्वंसेन ध्वस्तप्रायं विशेषतः।। ६४।।

आभासार्थ – इस प्रकार शैव मत को दूषित करके अब विज्ञानेन्द्र भिक्षुमत का खण्डन करते है।।६४।।

मायोपाधिककर्तृत्वमिति।। भिक्षोरिदं भैक्षवं तस्मिन् भैक्षवे मत इत्यर्थः। स हि, ब्रह्म न समवायी नाऽसमवायी, नापि निमित्तम्। किन्त्वधिष्ठानकारणम्। तल्लक्षणं च, यत्राऽविभक्तं, येनोपष्टब्धं च सदुपादानकारण कार्याकारेण परिणमते तदधिष्ठानकारणम्। एतल्लक्षणसमावेशस्तु, यत्र ब्रह्मणि अविभक्तं विभागरहितं, येन ब्रह्मणा, उपष्टब्धं च सत् साक्षितामात्रेणाङ्गीकृतं च सदुपादानकारणं प्रकृतिरूपं कार्याकारेण जगद्रूपेण, परिणमते तद् ब्रह्म अधिष्ठानकारणमित्यर्थः ब्रह्मणश्च कर्तृत्वं सोपाधिमायौपाधिकम्। परिणामित्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्याद्योपाधिकमिति जगाद। तदसङ्गतम् आत्मैवेदमग्र आसीदित्यादिश्रुतिषु प्रत्यक्षस्य जगतः पूर्वमात्मत्वादिकथनेनेतरस्याभावाविभागाख्यस्वरूपसम्बन्धस्य तदानी वक्तुमशक्यत्वेनाधिष्ठानलक्षणेनातिव्याप्तेः। एकोऽहमिति श्रुतिविरोधाच्च। ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, आत्मैवेद सर्वम्, तदाऽऽत्मानꣳस्वयमकुरुत, बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मण उपादानत्वकथनान्न प्रकृतेरुपादानत्वसिद्धिः। मायोपाधिकं कर्तृत्वं प्रकृतितत्कार्यौपाधिकं परिणाम्युपादानत्वमप्यसंगतम्। आनन्दरूपममृतं यद् विभाति, सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायेत्यादिश्रुतिभिरानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरित्यादिस्मृतिभिश्च ब्रह्मण आनन्दकारत्वे सिद्धे मूलरूपस्य उपाधिकल्पनायां बीजाभावात्। विकारित्वपरिहारायौपाधिकत्वमुच्यते, तन्निरस्त प्राक्।।

किञ्चोपाधिकपक्षस्य मायावादानुसारित्वात तत्खण्डनेनैतस्यापि खण्डितप्रायत्वाच्चेत्याहुः।। तन्मायिवादध्वंसेन ध्वस्तप्रायमिति।। प्रायपदात् सर्वांशतो न ध्वस्तमतस्तन्मतमनूद्य खड्यते। तथाहि। यज्जीवानां नित्यभिन्नत्वं व्यापकत्वं चाङ्गीकृत्य अविभागलक्षणमभेदं

चाङ्गीकृत्य, सजातीयत्वे सत्यऽविभागप्रतियोगित्वमंशत्वं, तदनुयोगित्वं चांशित्वम्। अविभागश्च सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इत्यादिश्रुत्या, प्रकृतिः पुरूषश्चोभो पुरूषश्चोभो लीयेते परमात्मनि इत्यादिस्मृत्या बोधितः। लीङ्श्लेषणे, पद गतावित्याद्यनुशासनेन लयसम्पत्त्यव्ययशब्दानामविभागार्थकत्वात्। एवञ्च यथा शरीरकेशादिरंशो, राशेश्चैकदेशः, पितुश्च पुत्र दुष्टान्तत्रयमुक्त्वा सर्वे जीवाः पितरि पुत्रचेतना इव चिन्मात्रे ब्रह्मणि नित्यसर्वावभासके विषयभासनरूपं स्वलक्षणं विहाय प्रलये लक्षणानत्यत्वं गच्छन्ति। सर्वकाले च तत एवं लब्धचैतन्यफलोपधाना आविर्भवन्ति। पितुरिव पुत्रः। अतो जीवा ब्रह्मांशा भवन्ति। आत्मैव जायते पुत्र इत्यादिश्रुत्या पुत्रे पितुर विभागलक्षणा भेदवज्जीवब्रह्मणोरविभागलक्षणाभेदस्य बहुस्यां प्रयोयेयेत्यादिश्रुत्या सिद्धेरिति। अतो जीवा ब्रह्मांशा मुख्या एव भवन्तीत्याह। तदप्यरमणीयम् नित्यभेदे सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गो, वैषम्यादि दोषप्रसक्तिश्च। व्यापकत्वे, एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इति श्रुतिविरोधः। ब्रह्मणो व्यापकत्वे जीवस्यापि व्यापकत्वे लयकथनस्य, नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे इति श्रुत्या, विशते तदनन्तरमिति स्मृत्या चः प्रवेशकथनस्यासंगतत्वंस्यात्। देहमात्राव्यापकताअंगीकारे हस्तिकाव्याप्तजीवस्य पिपीलिकाकायेप्रवेशोऽनुपपन्नः। अविभागेन स्थितिरपि न सम्भवति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतिविरोधात् एवकारेण। ब्रह्मातिरिक्तस्थितिनिषेधात्। दृष्टान्तत्रयमपि स्वमताऽननुगुणम् तथाहि। केशादिकं कशरीरस्य विकार एवं ब्रह्मणो जीव इति विकारित्वं ब्रह्मण्यागतम्। प्रकृतेः परिणामित्वाङ्गीकारे शरीरस्थाना पन्ना प्रकृतिः केशादिस्थानापन्नो जीव इति प्रकृत्यंशत्वं, न ब्रह्मांशत्वं स्यात्। एवं दृष्टान्तद्वयेऽपिता

बोध्यम् बहुस्यामिति श्रुत्या ब्रह्मण एव सर्वभवनसिद्ध्यां उपाधिकल्पनाया असंगतत्वात् स्वमतभंग इति दिक् ।।६४।।

व्याख्यार्थ– भैक्षवे इसका विग्रहवाक्य, 'भिक्षोः इदं भैक्षवं तस्मिन् भैक्षवे है अर्थात् भिक्षु का जो मत उस मत में भिक्षु ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म समवायि कारण नहीं हैं न असमवायि का कारण है और न निमित्तकारण ही है। किन्तु अधिष्ठान कारण हैं और अधिष्ठान का उन्होंने लक्षण किया है यत्राविभक्तं येनोपष्टब्धं च सदुपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते पदाधिष्ठानम् इस लक्षण का समावेश इस तरह है' ब्रह्म में अविभक्त=विभागरहित ब्रह्म से उपष्टब्ध होते हुए साक्षिता मात्र से अंगीकृत सदुपादान=प्रकृतिरूप कार्य कारण जगत् रूप से परिणाम को प्राप्त होता है वह ब्रह्म अधिष्ठान कारण है और ब्रह्म का कर्तृत्व सोपाधिमायोपाधिक है और परिणामित्वरूप उपादानता प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य आदि औपाधिक है ऐसा वह सब असंगत है 'आत्मैवेदमग्र असीत्' इत्यादि श्रुतियों में इस प्रत्यक्ष जगत् को प्रथम में आत्मरूप कहा है दूसरी कोई भी स्थिति नहीं थी अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं था तो फिर अविभागनामक होगा स्वरूपसम्बन्ध उस समय कह नहीं सकते इसलिये अधिष्ठान का जो लक्षण किया वह अतिव्याप्त होगा और 'एकोऽहम्' इस श्रुति का भी विरोध होगा। और 'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् आत्मैवेदं सर्वम्' 'तदात्मानᳬस्वमकुरुत' बहु स्यां प्रजायेय' इन श्रुतियों में तो ब्रह्म को उपादान कारण कहा है अतः प्रकृति की उपादान कारणता सिद्ध नहीं होगी। मायौपाधिक कर्तृत्व प्रकृति

तत्कार्योपाधिक परिणामि उपादानत्व भी असंगत है' आनन्दरूपममृतं यद् विभाति। सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय' इत्यादि श्रुतियों से और 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इत्यादि स्मृतियों से ब्रह्म आनन्दाकार सिद्ध होता है तो मूलरूप की उपाधिकल्पना में कोई बीज नहीं है विकारित्व परिहार के लिये औपाधिकत्व कहा गया है यह भी खण्डित हो गया।

और औपाधिकपक्ष तो मायावादानुसारी है अतः मायावाद के खण्डन से इसका भी प्रायः खण्डन हो गया है। अर्थात् मायावाद के ध्वंस से यह भी प्रायः ध्वस्त हो गया। प्रायः शब्द के देने का तात्पर्य यह है कि सर्वांश से उसका खण्डन नहीं हुआ इसलिये उसका अनुवाद करके खण्डन किया जाता है। जैसा कि – जीव ब्रह्म से नित्य भिन्न है और व्यापक है और उनका अविभागलक्षण अभोद है ऐसा अंगीकार करके 'सजातीयत्वे सत्यविभागप्रतियोगित्वमंशत्वं तदनुयोगित्वंचाशित्वम्' और अविभाग 'सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्या महे' इत्यादि श्रुति से 'प्रकृतिः पुरुषश्चोभो लीयते परमात्मनि' इत्यादि स्मृति से बोधित होता है। लीङ्श्लेषणे, पद गतौ इत्यादि अनुशासन से लय, सम्पत्ति, अव्यय इन शब्दों का अविभाग अर्थ है ऐसा होने से शरीर के केश आदि अंश है, राशि का एक देश भी उस राशि का अंश है, पुत्र पिता का अंश है इस तरह तीन दृष्टान्त कह कर सब जीव पिता में पुत्र चेतना की तरह चैतन्यमात्र नित्य सर्वावभासक ब्रह्म में विभासनरूप अपने लक्षण का परित्याग कर प्रलय में अनन्य लक्षण को प्राप्त हो जाते है और सृष्टि के समय उसी ब्रह्म से प्राप्त चैतन्यफलोपधान

जीव आविर्भूत होते है जैसे पिता से पुत्र। अतः जीव ब्रह्म के अंश है। 'आत्मैव जायते पुत्र' इत्यादि श्रुति से पुत्र में पिता का अविभागलक्षण अभेद है उसी तरह जीव और ब्रह्म में भी अविभाग लक्षण अभेद 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म के अंश मुख्य ही होते है ऐसा कहा। वह भी अभी अच्छा नहीं है जीव का ब्रह्म से नित्य भेद मानते हो तो एक के जानने से सब का ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञा का भङ्ग होना, जीव को ब्रह्म से भिन्न मानने पर वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष ब्रह्म में आयेंगे। जीव को व्यापक मानने में 'एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यः' इस श्रुति का विरोध होगा। ब्रह्म भी व्यापक है और जीव भी व्यापक है तो जीव का लय ब्रह्म में 'नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इस श्रुति से 'विशते तदनन्तरम् इस स्मृति से कहा गया हैं वह प्रवेश–कथन असंगत हो जायेगा। देह मात्र व्यापकता अंगीकार करने पर हाथी के शरीर में व्याप्त जीव का चींटी के शरीर में प्रवेश असंगत होगा। और अविभाग से स्थिति भी सम्भव नहीं। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति का विरोध होता हैं 'ब्रह्मैव' यहां एव शब्द ब्रह्म से अतिरिक्त की स्थिति का निषेध करता है। उक्त तीन दृष्टान्त भी आपके मत के अनुसार नहीं है। देखिये केश आदि शरीर का विकार हैं यदि ऐसा जीव के लिये मानोगे तो ब्रह्म का विकार होगा तो ब्रह्म में विकारिता आ गई। आप तो प्रकृति की परिणामिता अङ्गीकार करते है तो शरीर के स्थानापन्न तो हुई प्रकृति और केशादि के स्थानापन्न हुए जीव तो जीव प्रकृति का अंश हुआ ब्रह्म का अंश नहीं हुआ। इसी तरह आगे के दोनों दृष्टान्त भी आपके विरूद्ध हैं। 'बहु स्यां प्रजायेय'

इस श्रुति से ब्रह्म ही सब कुछ हुआ है तो ये उपाधि की कल्पना असंगत होगी जिससे स्वमत भंग होगा।।६४।।

एवं भिक्षुमतं खण्डयित्वा शक्तिमतमुपन्यस्यन्ति –

आभासार्थ – इस तरह भिक्षुमत का खण्डन कर शक्ति मत का उपादान करते है–

शाक्तानां तु मते ब्रह्म विश्वोपादानमेव हि।।
निमित्तकारणं शक्तिर्विकारित्वभयादतः।।६५।।
तत्रात्मनो विकारित्वं श्रुतिशास्त्रविरोधि हि।।
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरूषः परः।।६६।।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्।।
इति भागवते पद्ये उपादानत्वमीरितम्।।
तद् विरूद्धयेत मम तु ब्रह्मतो न पृथक्च सा।।६७।।
शाक्तनां त्वित्यादि।।६५।। तद्दूषयन्ति।। तत्रेत्यादि।।६६-६७।।

श्लोकार्थ – ब्रह्म के विकारी होने के भय से शाक्तों के मत में ब्रह्म विश्व का उपादान कारण ही है निमित्त कारण शक्ति है वहां ब्रह्म का विकारित्व तो श्रुति शास्त्र से विरूद्ध है 'प्रकृति इस विश्व का उपादान कारण है और पर पुरूष (ब्रह्म) आधार है सत्=कार्य का अभिव्यञ्जक=प्रकट करने वाला काल है और वे तीन मैं= ब्रह्म हूँ इस भागवत के श्लोक में प्रकृति को उपादान कारण कहा है वह विरूद्ध होगा हमारे मत में वह (शक्ति) ब्रह्म से अलग नहीं है।।६५-६६-६७।।

शङ्कराचार्यरचित सौन्दर्य लहरी श्लोकविरोधमाहुः–

आभासार्थ– शङ्कराचार्यरचित सौन्दर्य लहरी के श्लोक का विरोध कहते हैं।

मरूत्त्वमिति पद्ये हि शङ्कराणां च शाम्भवी।।
परिणामं तु सम्प्राप्तेत्युक्तेर्बाधः प्रसज्जयते।। ६८।।

श्लोकार्थ – शङ्कराचार्य के 'मरुत्व' इत्यादि सौन्दर्य लहरी के श्लोक में शाम्भवी (शक्तिः परिणाम) को प्राप्त हुई है इस कथन से बोध प्रसक्त होता है।। ६८।।

मरूत्त्वमिति।। पद्यं तु –
मरूत्त्वं व्योम त्वं मरूदसि मरूत्सारस्थिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।।
त्वमेव स्वात्मान परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन विभृषे, इति।।६८।।

व्याख्यार्थ – मरूत्वं यह पद्य इस प्रकार है –
(इसका अर्थ इस प्रकार है)

हे देवी तुमही आकाश, तुमही वायु, एवं अग्नि, जल हो तुम ही पृथ्वी हो तुम्हारे परिणत होने पर कोई पर नहीं है तुम ही अपने को विश्व (निखिल) शरीर से परिणत होने के लिये अपने चिदानन्दाकार को शिवयुवतिभाव से धारण करती हो।।६८।।

पवनमयि पावकमयि
क्षोणीमयि गगनमयि कृपीटमयि।।
रविमयि शशिमयि दिङ् मयि
समयमयि प्राणमयि शिवे पाहि।। ६६।।

हे पवन रूपे, हे अग्नि रूपे, हे पृथ्वीरूपे, हे रविरूपे, हे चन्द्ररूपे,

हे दिग्रुपे, हे समयरूपे, हे प्राणरूपे, शिवे रक्षा करो।।६६।।

इति दुर्वाससा प्रोक्तं सर्वात्मत्वं विरूद्ध्यते।।
सर्वोपनिषदो या हि ब्रह्मतत्वनिरूपिकाः।।७०।।
नास्ति शक्तेर्वर्णनं हि कारणत्वं तु दूरतः।।
व्यासैस्तु प्रकृतेः सर्वकारणत्वं तिरस्कृतम्।।७१।।

श्लोकार्थ– इस प्रकार दुर्वासा की कही देवी की सर्वात्मताविरूद्ध होगी सभी उपनिषद् जो ब्रह्मतत्व का निरूपण करती हैं उसमें शक्ति का वर्णन तक नहीं, कारणता तो दूर रही व्यासजी ने प्रकृति (शक्ति) का सर्वकारणत्व तिरस्कृत किया है नहीं माना है।।७०-७१।।

दुर्वाससेति।। ललितास्तवरत्न इति शेषः।।७०।।

नास्तीति।। यत्र वर्णनमेव नास्ति, तत्र कारणत्वस्य सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः।। ननु केषाञ्चिच्छाक्तानां मते शक्तिरेव ब्रह्म। सैव समवायिकारणम्। किञ्च, सांख्यमतेऽपि प्रकृतेरपि तत्त्वमिति चेत्। तत्राहुः।। व्यासैरिति।। सांख्यमतखण्डनेन सर्वकारणत्वं समवायिनिमित्तकरणत्वं तिरस्कृतं ब्रह्मसूत्रैरित्यर्थः।।७१।।

व्याख्यार्थ :– 'दुर्वाससा प्रोक्तं' के आगे ललितास्तवरत्न इतना कहना शेष रह गया है।।७०।।

जहां शक्ति का वर्णन ही नहीं वहां उसकी कारणता की तो संभावना ही नहीं है। वहां शंका होती है कि कुछ शास्त्रों के मत में शक्ति ही ब्रह्म है वह ब्रह्म ही समवायी कारण है और सांख्य मत में भी प्रकृति को समवायि कारण माना है इस शंका के निरास के

लिये ही 'व्यासैस्तु प्रकृतेः' इत्यादि कहा। व्यासजी ने अपने ब्रह्म सूत्र में सांख्यमत का खण्डन किया है और सर्वकारणत्व अर्थात् समवायि निमित्त कारणत्व हटा दिया है।।७१।।

तर्हि समवायिनिमित्ताकारणं किं ब्रह्मेतिचेल्लोके समवायिमित्तकारणयोर्भेदात् कथमुभयं ब्रह्म। यथा समवायिकारणं मृन्निमित्तकारणं कुलालदण्डचक्रचीवरादीत्याशङ्कामपहरन्ति–

आभासार्थ – तब तो समवायिकारण और निमित्त कारण ब्रह्म ही है तो लोक में समवायि कारण और निमित्त कारण अलग अलग होते है तो एक ब्रह्म दोनों (समवायि निमित्त) कारण कैसे होगा ? जैसे घड़े का समवायि कारण मिट्टी होती है और निमित्त कारण, दण्ड, चाक, चीवर आदि होते है इस आशंका को दूर करते है।

ब्रह्मणः समवायित्वनिमित्तत्वे निरूपिते।।
ऋग्वेदे तु यतो देवी सूक्तमस्ति तु तत्र हि।।७२।।
अहमेव स्वयं वदामि जुष्टं देवेभिरूत मानुषेभिः।।
य कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्राह्मणं तमृंर्षि तं सुमेधाम्।।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन्
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।।७३।।

श्लोकार्थ– और ब्रह्म का समवायित्व तथा निमितत्त्व निरूपण किया है और ऋग्वेद में जो वहां तो (स्वयं देवी ने) मैं स्वयं कहती हूँ कि मैं जिसको चाहूँ उसे देवता तथा मनुष्यों से सेवित उग्र (शिव) बना देती हूँ मैं उसे ब्रह्म ऋषि, अच्छी बुद्धि वाला बनाती

हूँ मैं शिव के पिता ब्रह्मा को उत्पन्न करती हूँ और मेरी उत्पत्ति स्थान जल के अन्दर समुद्र में है।।७२-७३।।

ब्रह्मण इति।। निरूपिते इति।। व्यासैरिति शेषः। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्, योनिश्च हि गीयते इत्यादिना। अनुयोरर्थस्तु पूर्वं समवायिकारणं प्रकृतिरेवेति प्राप्ते आह। प्रकृतिश्चेति। मृत्प्रकृतिर्घटः, तन्तुप्रकृतिः पट इत्यादौ प्रकृतिशब्दः समवायिनमाह। एवञ्च ब्रह्म समवायिकारणम्। चकरारान्निमित्तिकारणम्। कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्। अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यऽविज्ञातं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञा। दृष्टान्तो, यथा, सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन मृण्मयं विज्ञातं भवतीति। अनयोरनुपरोधाद्। अबाधनादित्यर्थः द्वितीये, जडानां ब्रह्मैव कारणं चेतनेषु तु योनिबीजयोः समवायित्वदर्शनादित्याशङ्कां परिहरति। योनिश्चेति। योनिश्च ब्रह्मैव। शक्तिवादनिराकरणाय चकारः। किञ्च, तदात्मानःस्वयमकुरूत। यतो वेत्यादि। जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्। कर्ता कारयिता हरिः। जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चेत्यादिषु स्मृतिश्रीभागवतादिषु ब्रह्मण एव समवायिनिमितत्वयोः सिद्धि। तत्राऽन्वयात् समवायिकारणात्। इतरतो निमित्तकारणादिति श्रीमदाचार्यचरणैः सुबोधिन्यामुदितम्। तत्तु समन्वया दित्यस्यार्थस्तु, तद् ब्रह्म समवायिकारणम् कुतः समन्वयात्। सम्यगन्वयो यथा मृदो घटे, तथा ब्रह्मणो जगतीति। विशेषतस्तु भाष्यकारैर्बहुशो निरूपितं, ततोऽवधेयम्।।

ननु ब्रह्मरूद्रादिकारणत्वं देव्या उदितं, तत्राहुः :– ऋग्वेद इति।।७२।।

देवीसूक्तेऽपि विष्णुरेव देव्याः कारणमितिबोधाय

देवीसूक्तमन्त्रमाहुः– अहमेवेत्यादि।। देवेभिर्देवैः मानुषेभिर्मानुषैः जुष्टं सेवितम्।। यं जीवं कामये इच्छामि तं तं जीवमुग्रं रूद्रं कृणोमि करोमीत्यर्थः ।।७३।।

व्याख्यार्थ – ब्रह्म का समवायित्व और निमितत्त्व व्यासजी ने निरूपण किया है 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' योनिश्च हि गीयते' इन ब्रह्म सूत्रों से समवायित्व और निमित्तत्व सिद्ध किया है इनका अर्थ इस प्रकार है पहले प्रकृति ही समवायिकारण है ऐसा प्राप्त हुआ था उसके लिये कहते है कि मत्प्रकृति घट, तन्तु प्रकृति पट इनमें प्रकृति शब्द समवायि को कहता है उसी तरह ब्रह्म समवायि कारण है और प्रकृतिश्च के च शब्द से निमित्त कारण भी वही है कैसे तो कहते है कि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध से। प्रतिज्ञा 'तमादेश मप्राक्षो उस आदेश को पूछा है कि जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है अमत मत तथा अविज्ञात विज्ञात हो जाता है'। दृष्टान्त – हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सारा मिट्टी का विकार (घडे सिकोरे आदि) जान लिया जाता है। इन प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध से ब्रह्म में प्राप्त समवायित्व, निमित्तत्व बाधित नहीं होता। द्वितीय सूत्र में जड़ पदार्थो का ब्रह्म ही समवायी कारण हैं तथा चेतन में तो योनि और बीज को भी समवायि कारण देखा जाता है। इस आशंका का परिहार करते है 'योनिश्च' योनि भी ब्रह्म ही है शक्तिवाद का निराकरणकरने के लिये च दिया गया है और भी 'तदात्मानःस्वयम कुरूत' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' ततु समन्वयात्' कर्त्ता कारयिता हरिः' जन्माद्यस्य यतोऽन्यादितरत्' इत्यादि श्रुति स्मृति और भागवत आदि में ब्रह्म

को ही समवायि तथा निमित्त कारण बताया है उसमें अन्वयात् से स्पष्ट समवायि कारणता सिद्ध होती है और इतरतः से निमित्तकारणतया सिद्ध होती यह श्रीमदाचार्य चरणों ने सुबोधिनी में कही है। समन्वयात् का अर्थ है कि वह ब्रह्म समवायिकारण है कैसे तो समन्वयात वह सर्वत्र अन्वित है जैसे मिट्टी घडे में वैसे ही ब्रह्म इस जगत में अन्वित है विशेष इसका निरूपण भाष्यकार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने अनेक जगह किया है उसे वहां से जानना चाहिये।

देवी को रूद्र आदि का कारण कहा है उसका क्या उत्तर है उसके लिये कहा है कि ऋग्वेद में उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से बताई है।।७२।।

देवी सूक्तमें भी विष्णु ही देवी का कारण है इस को बोधित करने के लिये देवी सूक्त का मन्त्र यहां कहा गया है मानुषेभिः = मनुष्यों से। जुष्टम् = सेवित। जिस जीव को मैं चाहूँ उस जीव को रूद्र बना देती हूँ।।७३।।

एवं श्रुतौ तु देव्या हि स्वकारणतयोदितः।
पयोऽधिशायी यो विष्णुः स उक्तोऽतो न सा परा।।७४।।
उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठ इति कोशाच्छिवः स्मृतः।।
अस्येति रूद्रो निर्दिष्टोऽहं रूद्रायेति वाक्यतः।।७५।।

श्लोकार्थ – इस प्रकार देवी ने पयोधिशायी (शेषशायी) जो विष्णु हैं उनको अपना कारण कहा अतः वह शक्ति विष्णु से भिन्न नहीं है।।७४।।

'उग्र कपर्दी श्रीकण्ठः' इस अमर कोश के अनुसार 'उग्र' यह

शिव का नाम है और अस्य से भी रूद्र का ही निर्देश है क्योंकि 'अहं रूद्राय' ऐसा वाक्य पहले आ चुका है।।७५।।

एवमित्यादि।। एवं रीत्येर्थः।। सेति।। देवीत्यर्थः एवञ्च परत्वं सर्वजगत्कारणत्वं विष्णोरेवेति सिद्धम्।।७५।।

कोशाद् अमरकोशात्।। वाक्यत इति।। अहं रूद्राय धनुरातनोमीति तत्रत्यश्रुतिवाक्यत इत्यर्थः।।७५।।

व्याख्यार्थ – एवं = इस रीति से। सा = देवी। इस तरह परत्व और सर्वजगत्कारणत्व विष्णु का ही सिद्ध होता है।।७४।।

कोशात् = अमरकोश से। 'अहं रूद्राय धनुरातनोमि' वहां के श्रुति वाक्य से यह वाक्यतः का अर्थ है।।७५।।

प्रक्रान्तत्वात् पिता ब्रह्मा तद्योनिः शक्तिरत्र हि।।
तस्यास्तु जनको विष्णुः सिन्धुशायी निरूपितः।।७६।।

श्लोकार्थ – प्रकरण के कारण शिव के पिता ब्रह्मा हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण शक्ति है और उस शक्ति के उत्पन्न करने वाले जनक (पिता) समुद्रशायी विष्णु है ऐसा निरूपण किया है।।७६।।

प्रक्रान्तत्वादिति।। प्रक्रमप्राप्तत्वादित्यर्थः।। पितेति।। रूद्रः पिता निर्दिष्ट इति पूर्वेणान्वयः। एवं शक्तिपदेऽपि।। तद्योनिरिति।। तस्य ब्रह्मणो योनिः कारणम्। अत्र हि देवीसूक्ते मन्त्रे मूर्द्धन्नित्यस्य मुख्यमित्यर्थः। सुपां सुलुगिति सूत्रेण सुब्लोपः। तर्हि शक्तेः किं कारणं तत्राहुः।। तस्यास्त्विति।। मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे इति मन्त्रेण निरूपित इत्यर्थः। मम शक्तेः योनिः कारणं समुद्रे अप्सु

अन्तः अस्तीति शेषः समुद्रशायित्वं विष्णोरेवेति विष्णुः कारणमित्यर्थः।।७६।।

प्रक्रान्तत्वात्=क्रमानुसार प्राप्त होने से। पिता से रूद्र के पिता ब्रह्मा निर्देश है ऐसा पूर्व से इसका अन्वय है। 'तद्योनि' का अर्थ है उस ब्रह्मा का कारण यहां देवी सूक्त के मन्त्र में 'मूर्द्धन्' ऐसा आया है, उसका अर्थ है मुख्य 'सुपांसुलुग्' इस सूत्र से सुपू का लोप हो जाता है। तो शक्ति का कारण कौन है उसके लिये कहते है 'तस्यातु जनको विष्णु' मेरी उत्पत्ति के कारण तो विष्णु है यह 'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' इस मन्त्र में निरूपित है मम=मुझे शक्ति का, योनिः=कारण, समुद्र में जल के अन्दर है।।७६।।

अस्माकं व्यासचरणैर्यदुक्तं न ततोऽन्यथा
अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासेत्युक्त्वा तल्लक्षणेन हि।।७७।।
जन्माद्यस्येत्यादिसूत्रैः कारणं ब्रह्म कीर्तितम्।।
तन्त्रशास्त्रेण चेद् ब्रूषे तदवैदिकसंमतम्।।७८।।

श्लोकार्थ–हमारे मत में व्यासजी ने कहा है उसके विरूद्ध किसी का ग्रहण नहीं किया जाता। व्यासजी ने 'अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा' ऐसा कह कर ब्रह्म का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्'. इत्यादि सूत्रों से बताया है उनमें ब्रह्म को कारण कहा है (शक्ति को कहीं कारण नहीं बताया है) यदि तन्त्र शास्त्रों के आधार से शक्ति को कारण बताते हो तो वह तो अवैदिक लोगों का सम्मत है।।७७-७८।।

अस्माकमिति।। मत इति शेषः व्यासचरणैरिति।। तदेव ग्राह्यमिति शेषः।। अन्यथा=व्यासोक्तिविरूद्धम्।। ननु व्यासचरणैः कस्य कारणत्वमुक्तं तत्राहुः।। अथात इत्यादि।। इदं चोत्तरतन्त्रादिमं सूत्रम्। ब्रह्मणः ब्रह्मसम्बन्धी। जिज्ञासा विचारः। अथशब्दस्तावदारम्भार्थकः। आरभ्यत इत्यर्थ। यतः कर्मादिभ्यो ब्रह्मज्ञानं पुरूषार्थसाधकमतस्तज्ज्ञानाय विचार इत्यतः– शब्दार्थः।।७७।।

व्याख्यार्थ – अस्माकं के आगे मते ऐसा शेष रह गया है अर्थात् अस्माकं का अर्थ हमारे मत में ऐसा है। इसी तरह व्यास चरणैः इसके बाद 'तदेव ग्राह्यम्' इतना और चाहिये, अर्थात् व्यासजी ने जो कहा है वह ही हमारे मत में ग्राह्य है और अन्यथा=व्यास की उक्ति के विरूद्ध कोई ग्राह्य नहीं है। यदि यह प्रश्न हो कि व्यासजी किस को कारण कहते हैं ? तो 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' यह उत्तर मीमांसा का प्रथम सूत्र है उस में 'ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासा=विचार है। अथ शब्द आरम्भ वाचक है अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी विचार आरम्भ किया जाता है। क्योंकि कर्म आदि से ब्रह्म का ज्ञान पुरूषार्थ साधक है इसलिये उसके ज्ञान के लिये विचार है यह 'अतः' इसका अर्थ है।।७७।।

ब्रह्म किंलक्षणममिति शङ्कायां, जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादित्युक्तम्। अर्थस्त्वधस्ताद् प्रतिपादित।।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यत, इति प्रतिज्ञाय,
अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनमिति गीतायां पुरूषोत्तमवाक्यात्। अग्रेऽपि तत्रैव–

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरूषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वेदेवर्षिर्नारदस्तथा।।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे इत्यर्जुनवचनात्।। अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तत इति पुरूषोत्तमवाक्याच्च जगत्कारणत्वं श्रीकृष्णस्यैव न देव्या। नन्वनेकेषु तन्त्रेषु तस्याः कारणत्वोक्तिरित्यत आहुः।। तन्त्रशास्त्रेणेति।।

श्रौतार्चनं तु विप्राणां विशेषेण भवेत् सदा।
श्रौतागमार्चनं क्षत्रे वैश्ये केवलमागममिति वाक्यात्।।
तन्त्रेषु दीक्षितो मर्त्यो वैदिकं न स्पृशेत् सदा।
वैदिकश्चापि तन्त्रेषु दीक्षितं न स्पृशेत् सदेतिवाशिष्ठलैङ्गोक्तेः।।

क्वचित् तन्त्रानुरोधेन धर्मं पौराणिका अपि।
वदन्ति तादृशोंऽशस्तु ग्राह्यस्तन्त्रावलम्बिनेति पराशरोक्तेः।
पराशरीयपुराणे –
प्रत्यक्षवेदसिद्धार्थः संग्राह्यः सर्वचेतनैः।।
अप्रत्यक्षं श्रुतेरर्थं स्मरन्ति मुनिसत्तमाः।।
स्मृतयश्च पुराणानि भारतप्रमुखान्यपि।
क्वचित् कदाचित् तन्त्रार्थकटाक्षेण मुनीश्वराः।।
अधिकारविषेषाणां प्रवदन्त्यर्थमास्तिकाः।
ब्रह्मणः क्षत्रियो वाऽन्यो निःशङ्क तत् परित्यजेत्।।
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टः प्रायश्चित्तेष्वनुन्मुखः।

वेदेतरागमं गत्वा पापी तद्धर्ममाचरेत्।।

वेदबाह्यरताः सक्ता बहवो नरकं गता इति। कौर्मपुराणेऽपि ब्राह्मणानां गौतमशापेन त्रयीबाह्यत्वे जाते तैः स्तुतौ शिवकेशवावित्युपक्रम्य।

चकार मोहशास्त्राणि केशवः सशिवस्तथा।
कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्।।
पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानिसहस्रशः।
क्वचित्त् कचित् पुराणादौ वेदमूलेऽपिसर्वथा।

सन्ति निर्मूलतन्त्रांशास्ते ग्राह्य न वैदिकैरित्यादिवाक्यानि सप्तशतीटीकायां नागोजीभट्टेन, भट्टोजिदीक्षितादिभिरप्युपनिबद्धानि। अत एवाऽऽश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे सन्ध्याप्रकरणं सावित्र्या ऋषिदैवतच्छन्दांस्यऽनुस्मृत्य तामेतां चतुरक्षरेण विभक्तां मन्त्रयोजितैः षड्भिश्चागममन्त्रैर्यथाभागमात्मनि विन्यस्य भावयेदित्युक्त्वा हृदयादिषङ्ग न्यासमुक्त्वा, एनमप्येके नेच्छन्ति, स हि विधिरवैदिक इति निरूपितं संगतं भवतीति दिङ्मात्रमुदितम्। तदेवाहुः।। तदवैदिकसंमतमिति।। अवैदिकानां संमतमित्यर्थः। वेदविरूद्धार्थस्य तन्त्रत्वेन व्यवहारः सर्वनिर्णयनिबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैः, छलयोगस्तथा सांख्यं शाक्तोमार्गो अभिधीयते, इति।।

सांख्ययोगौ मिलितौ धर्ममार्गविरोधेनाऽमेध्यभक्षणसुरापानादिपोषितौ। शाक्तो मार्गस्तत्र सप्तभेदा उक्ता :–

वैदिकाः ।।१।। वैष्णवाः ।।२।। शैवाः ।।३।। शाक्ताः ।।४।।

वामाः ।।५।। सिद्धान्ताः ।।६।। कौलाः ।।७।।

लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः।
कलौ जनिष्यमाणानामसुराणां क्षयाय हि।।

सर्वेषां नरके वास इत्युक्तम् एतट्टीकायां त्याज्यत्वे हेतुरुक्तो महापातकिसंसर्गेऽपि महापातकित्व श्रवणादिति। तत्र कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः। लोके संमाननार्थ कर्मासक्तः। सिद्धान्तानां त्वासुरसिद्धान्तः सर्व मिथ्येति। कर्म सर्वथा व्यक्तव्यं बाधकमिति, तथा भक्तिरपि। केवलं वाचः पेशैर्मोहयन्ति ये ते सिद्धान्ताः। तेषां लोकेसंग्रहो नियामकः। कौलानां तु न लोकापेक्षेति भेदः।

पत्नीत्वे दीक्षया रण्डाश्चण्डा अपि भजन्ति हि।
दिगम्बराश्चर्मचिन्हाः सुरामांसपरायणाः।।
पापरूपा दुराचारस्ते कौला परिकीर्त्तिताः।।

तेषामनुग्रहनिग्रहादिकं दृष्टं फलं, तन्मार्गसेवितया दुष्टतामसशक्त्यासिद्धान्तस्य लोके संमाननं फलम्।। ततो व्यामोहोलोकस्य भवतीत्युक्तम्। वैष्णवास्तु गोपालनृसिंहसंयुक्तां शक्तिमुपासते ते यथा गोपालसुन्दरीनृसिंहसुन्दर्याविति। एवमेव शिवयुक्तां तामुपासते, ते शैवाः। केवलशक्त्युपासकाः शाक्ताः। वामश्च वामाचारेण सुरासम्बन्धादिना तामुपासते।। अत्र तन्त्र उक्तम्–

पञ्चप्रेतासनारूढां परब्रह्मस्वरूपिणीम्।
ब्रह्मा विष्णुश्च रूद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।।
एते पञ्च महाप्रेताः पादमूले व्यवस्थिता, इति।।

श्री मदाचार्यचरणैस्तु तत्रैवैतन्निर्णयः कृतः। तत्र

त्रिपुरसुन्दर्यादिशक्तय– सेव्या योगश्च साध्य इति बुद्धि :। तत्रानधि कारे शैववैष्णवौतस्याः शक्तेः पादत्वेन पञ्चप्रेतमध्ये निरूपितौ। न शब्दमात्रेण किञ्चिद् दुष्यति, पदार्थस्त्वन्यएवातो भूतादिरेव विष्णुशिवादिनाम धृत्वा तथोपास्त इति। तत्राभयश्लोकेऽपि प्रेतमहाप्रेतत्वेनोक्ताः। एवञ्च तन्त्रशास्त्रस्य वैदिकानामुपेक्षणीयत्वमतश्चतुः षष्टितन्त्राणां प्रतिपाद्याऽर्थसहितानां नामानि लिख्यन्ते। तत्र, महामायाशम्वरतन्त्रम् अन्यस्मिन् पदार्थे अन्यथा प्रतिभासनरूपमायाप्रपञ्चरचनोपायप्रतिपादक कर्मेद्रजालविद्यारूपम्।।१।। योगिनीजालशम्बरतन्त्रं योगिनीजालप्रतिपादकम्।।२।। तत्त्वशम्बरतन्त्रमिन्द्रजालविद्याविशेषः पृथिव्यादितत्त्वानामन्यत्रान्य– बोधोपायप्रतिपादकम्।।३।। सिद्धीभैरव तन्त्रम्।।४।। मायिकभैरवतन्त्रम्।।५।। कङ्कालभैरवतन्त्रम्।।६।। कालाऽग्निभैरवतन्त्रम्।।७।। शक्तिभैरवतन्त्रम्।।८।। योगिनीभैरवतन्त्रम्।।६।। महाभैरवतन्त्रम्।।१०।। भैरवनाथतन्त्रमिति भैरवाष्टकमिदं कापालिकमतप्रतिपादकम्।।११।। ब्राह्मीतन्त्रम् ।।१२।। माहेश्वरीतन्त्रम्।।१३।। कौमारीतन्त्रम्।।१४।। वैष्णवीतन्त्रम्।।१५।। वाराहीतन्त्रम्।।१६।। इन्द्राणीतन्त्रम्।।१७।। चामुण्डातन्त्रम्।।१८।। शिवदूतितन्त्रम्।। ब्राह्म्यष्टकमिदं तत्तदेवताप्रतिपादकम्।।१६।। रूद्रयामलम्।।२०।। भैरवयामलम्।।२१।। शिवयामलम्।।२२।। विष्णुयामलम्।।२३।। स्कन्दयामलम्।।२४।। ब्रह्मयामलम्।।२५।। देवीयामलम्।।२६।। यामलमिति रूद्रयामलान्यऽष्टौ सिद्धाम्बाप्रतिपादकानि। चतुषष्टितन्त्राणामपि यामलत्वेन व्यवहारः।।२७।। चन्द्रज्ञानतंत्रम् कामैश्वर्यादिषोडशनित्याप्रतिपादकम्। तिथिनामधोयं नित्येति।।२८।। मालिनीतंत्रम्

समुद्रयानोपायप्रतिपादकम्।।२६।। महासंमोहनतन्त्रम्, जाग्रतामपि निद्रोपायप्रतिपादकम्।।३०।। वामसेवितं वामकेश्वरतन्त्र, चतुःशतित्यपि कथ्यते।।३१।। महादेवतन्त्रं बटुकादिसिद्धकुलाचारप्रतिपादकम्।।३२।। वातुलम्।।३३।। वातुलोत्तरम्।।३४।। कामिकञ्च इति त्रीण्येतानि तन्त्राणि क्षेत्राकर्षणादिविधिप्रतिपादकानि।।३५।। हृद्भेदतन्त्रं, कापालिकाचारप्रदर्शकम्।।३६।। तन्त्रभेदगुह्यतन्त्रयोः प्रकाशं रहस्यं वापरकृतमन्त्रतन्त्रप्रयोगाणां परावृत्त्युपायाः प्रदर्शिताः।।३७।।३८।। कलावादं, कामशास्त्रं वात्स्यायनादिमतम्।।३६।। कलासारम्, रूपादिवृद्धयुपायप्रतिपादकम्।।४०।।कुण्डिकामतं गुटिकासिद्धिप्रदर्शकम्। गुटिका पानपात्रम्।।४१।। मत्तोतरतन्त्रम् रससिद्धिप्रकाशकम्।।42।। वीणातन्त्रं वीणा नाम योगिनी सम्भोगपक्षिणीत्यस्यानामान्तरं तस्यां साधनोपायनिरूपकम्।।४३।।त्रोतलतन्त्रं, गुटिकाञ्जनपादुकासिद्धि प्रदर्शकम्।।४४।। त्रोतलतन्त्रोत्तरतन्त्र, चतुषष्टिसहस्त्रयोगिनीनां दर्शनोपायनिरूपकम्।।४५।। पञ्चाऽमृततन्त्रं, पृथिव्यादिपञ्चभूतानां साधनेन मरणाभावप्रतिपादकं कापालिकतन्त्रम्।।४६।। रूपभेदादिपञ्चतन्त्राण्युच्चाटनादिप्रतिपादकानि।।५१।। सर्वज्ञानादितन्त्रपञ्चकं कापालिकसिद्धान्तैकदेशिदिगम्बर मताचारप्रदर्शकम्।।५६।। पूर्वमन्त्रादिदेवीमतपर्यन्तं तन्त्राष्टकम् दिगम्बरैकदेवीमतपर्यन्तं तन्त्राष्टकं दिगम्बरैकदेशिक्षपणमताचारप्रदर्शकम्।।६४।।

एवमेतानितन्त्राणि मोहकानि त्याज्यानि वैदिकैरिति बोधाय लिखितानि।।७८।।

ब्रह्म का लक्षण क्या है ऐसी शङ्का होने पर 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि इसका अर्थ तो पहले ही कह चुके

हैं। गीता में भगवान् कृष्ण ने 'निःसंदेह जिस प्रकार मुझे सम्पूर्ण रूप से तू जान सकेगा वह सुन, जिस के जानने पर फिर अन्य जानने योग्य नहीं रहता, ऐसी प्रतिज्ञा करके 'मैं सारे जगत् की उत्पत्ति और प्रलय हूँ हे धनञ्जय! मेरे से परतर कोई नहीं है। हे पार्थ! सब प्राणियों का सनातन बीज मुझे जानो' ऐसा गीता में पुरूषोत्तम वाक्य है। इसके आगे वहीं पर आप परब्रह्म है, पवित्र परम आपका धाम है शाश्वत पुरूष, दिव्य आदिदेव, अज, विभु ऐसा सब ऋषि तथा देवर्षि नारद, असित, देवल व्यास कहते है और स्वयं आप भी अपने को ऐसा ही कहते हो। 'ऐसा अर्जुन का वाक्य है जब स्वयं पुरूषोत्तम का वाक्य कहते है कि मैं सब का प्रभव (उत्पत्ति) हूँ मेरे से ही सब प्रवृत्त है तो जगत् का कारण श्रीकृष्ण है देवी नहीं है। यदि कहो कि अनेक तन्त्रों मे देवी की कारणता कही है उसका उत्तर देते है–

ब्राह्मणों के लिये श्रोतार्चन विशेष रूप से होता है, श्रौत और आगमार्चन क्षत्रिय के लिये है, वैश्य के लिये केवल आगमार्चन ही विशेष रूप से होता है इस वाक्य से तथा 'तन्त्रशास्त्र की जिसने दीक्षा ली है वह मनुष्य वैदिक का स्पर्श न करे और वैदिक को भी तन्त्रों में दीक्षित का स्पर्श नही करना चाहिये, ऐसी वशिष्ठ लैङ्गोक्ति है। पराशरजी ने कहा है कि 'पौराणिको ने भी तन्त्र के अनुरोध से क्वचित् धर्म को कहा है वैसा अंश तत्रावलम्बियों को ग्रहण करना चाहिये' पराशरीय पुराण में आया है कि 'प्रत्यक्ष वेद सिद्ध अर्थ सब प्राणियों के लिये संग्राह्य है और अप्रत्यक्ष जो श्रुति का अर्थ है उसे मुनियों ने स्मरण किया है महाभारत जिनमें प्रमुख ऐसी स्मृति और पुराणों को मुनियों ने स्मरण किया है उनमें

कहीं–कहीं आस्तिक मुनीश्वरों ने तन्त्र के कटाक्ष से अधिकार विशेषों को कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य निःशंक होकर तन्त्रशास्त्र का परित्याग करे। जो वर्ण तथा आश्रमों से भ्रष्ट हो गया है और जो उसका प्रायश्चित नहीं करना चाहता वह वेदेत्तर आगम का ज्ञान करने के कारण पापी है और वह तन्त्रोक्तधर्मो का आचरण करे। इस तरह वेद बाह्य आगमों में अनुराग तथा आसक्ति वाले अनेक लोग नरकगामी हुए है, इसी प्रकार कूर्म पुराण में भी ब्राह्मणों को गौतम का शाप हुआ और जब वे ब्राह्मण वेद बाह्य हुए तो उन्होंने शिव केशव की स्तुति की ऐसा उपक्रम करके कहा है – 'केशव और शिव ने मोहशास्त्र बनायें उनके नाम ये हैं कापाल, लाकुल, वाम भैरवपूर्वपश्चिम, पाञ्चशास्त्र पाशुपत तथा और भी ऐसे अनेक है कहीं कहीं सर्वथा वेदमूलक पुराण आदि में भी निर्मूल तन्त्रों के अंश है वे वैदिकों के लिये ग्राह्य नहीं है, इत्यादि वाक्य सप्तशती की टीका में नागोजी भट्ट ने तथा भट्टोजिदीक्षित आदि ने ऐसे वाक्य बताये है। अतएव आश्वलायनगृह्यसूत्र के परिशिष्ट में सन्ध्याप्रकरण में सावित्री के ऋषि, देवता, छन्द : इनका अनुस्मरण चतुरक्षर से विभक्त उस सावित्री का मन्त्रयोजित छः आगममन्त्रों से भागानुसार न्यास करके ध्यान करे ऐसा कहकर हृदयादिषडंग न्यास कहे इसे भी कुछ लोग ठीक नहीं मानते उनका कहना है कि वह विधि भी अवैदिक है ऐसा उनका निरूपण संगत होता है इस तरह यह दिग्दर्शन कराया है।

तन्त्रशास्त्र अवैदिक है और अवैदिक लोगों के लिये ही मान्य है। वेद विरूद्धार्थ ही नाम से व्यवहार में आता है। यह सर्व निर्णय

निबन्ध में श्रीमदाचार्य चरणों ने 'छलयोगस्तथासांख्यं शाक्तोमार्गोऽभिधीयते' मिलित सांख्य यौग धर्ममार्ग से विरूद्ध है वे अमेध्य (मांसादि) भक्षण और सुरा (मदिरा) पान से पोषित है।

शाक्तमार्ग के सात भेद कहे है–

१ वैदिक २ वैष्णव ३ शैव ४ शाक्त ५ वाम ६ सिद्धान्त ७ कौल

'लोक में यह शास्त्र व्यामोहक है और इन सातों का बोध कराने वाले शिव है। कलियुग में जन्म लेने वाले असुरों का क्षय हो इसके लिये इन सब असुरों को नरक में वास हो इसलिये यह व्याभोहक शास्त्र है, इन श्लोकों की टीका में शाक्त मार्ग का त्याग बताया है और त्याग में हेतु दिया है महापातकी के संसर्ग से भी महापात की हो जाता है वहीं पर ये कहा है कि 'जो कर्म में आसक्ति है उन्हे वैदिक कहा है, वे वैदिक (शाक्त) लोक में हमें सम्मान प्राप्त हो इसलिये कर्म में आसक्ति रखते हैं। सिद्धान्तों (शाक्तों) का तो आसुर सिद्धान्त है वे सब को मिथ्या मानते है उनका कहना है कर्म का सर्वथा परित्याग करना चाहिये क्योंकि वह बाधक है तथा भक्ति भी इसी प्रकार त्याज्य है। ये सिद्धान्त केवल अपनी चातुर्ययुक्त वाणी से लोगों को भ्रम में डाल देते है उन्हे सिद्धान्त (शाक्त) कहे है। उन के यहां लोक संग्रह ही नियामक है।

कौलों (शाक्त) के यहां तो लोक की भी अपेक्षा नहीं है। यही भेद सिद्धान्त और कौल में हैं 'कौल के यहां रण्डा हो या चण्डा उसे दीक्षा देकर अपनी पत्नि बना लेते है दिगम्बर (नग्न) रहते है तथा चर्म चिह्न धारण करते है और मांस भक्षण और सुरापान की उनके यहां मुख्यता है। वे

दुराचारी और पापी होते हैं उन्हें कौल कहा जाता है' कौलों के यहां अनुग्रह अथवा निग्रह यही दृष्ट फल है। शाक्त मार्ग में सेवित दुष्ट दुष्ट तामस शक्ति से सिद्धान्तों का लोक में संमान हो यही फल हैं। जब उनका लोक संमान जनता देखती है तो लोकों को मोह हो जाता है वैष्णव (शाक्त) गोपाल और नृसिंह से संयुक्त शक्ति की उपासना करते है और वे दोनों शक्ति गोपाल सुन्दरी तथा नृसिंह सुन्दरी कही जाती है। इसी तरह शिवयुक्त शक्ति की उपासना करते है वे शैव शाक्त हैं और जो केवल शक्ति की उपासना करते हैं उन्हें शाक्त कहते हैं। वाम उनको कहते हैं जो सुरासम्बन्ध आदि से शक्ति की उपासना करते हैं यहां तन्त्र में कहा है 'वह शक्ति पांच प्रेतों के आसन पर बैठी हुई और पर ब्रह्म रूपिणी है, ब्रह्म, रूद्र, ईश्वर, सदाशिव ये महाप्रेत है ये सदा उस शक्ति के चरणों में रहते है। श्रीमदाचार्यचरणों ने वहीं पर इनका निर्णय किया है वहां त्रिपुर सुन्दरी आदि शक्तियां सेव्य है और योग साध्य है ऐसी बुद्धि होती है। शैव और वैष्णव उस शक्ति के चरणरूप से पांच प्रेतों के मध्य में निरूपित है। केवल शब्द मात्र से ही कोई बात दूषित नहीं होती, पदार्थ कुछ और ही है अतः भूतादि ही ब्रह्म, विष्णु आदि नाम धरके वैसी उपासना करते हैं। वहां दोनों ही श्लोकों में उन्हें महाप्रेत रूप से कहा है।

इससे तन्त्रशास्त्र वैदिको के लिये उपेक्षा (नफरत, घृणा करने योग्य) है। अतः उन चौसठ तन्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ के सहित उनके नाम लिखे जाते हैं।

१. इन्द्रजालतन्त्र, इस तन्त्र में पदार्थ कुछ और है और उसे अन्यथा प्रतिमास न रुप माया प्रपञ्चरचनोप्रायप्रतिपादक कर्म है। २. योगिनीजाल शम्बरतन्त्र यह तन्त्र योगिनी जाल का प्रतिपादक है। ३. तत्वशम्बरतन्त्र यह तन्त्र एक तरह से इन्द्रजालविद्या विशेष है इसमें पृथिव्यादितत्वों को अन्यत्र अन्य बोधक का प्रतिपादन है। ४. सिद्ध भैरव ५. मायिक भैरवतन्त्र ६. कङ्काल भैरव तन्त्र ७. कालाग्नि भैरव तन्त्र ८. शक्ति भैरव तन्त्र ६. योगिनी भैरव तन्त्र १०. महा भैरव तन्त्र ११. भैरवनाथतन्त्र में भैरवाष्टक कापालिक मत के प्रतिपादक है। १२. ब्राह्मीतन्त्र १३. माहेश्वरीतन्त्र १४.कौमारीतन्त्र १५. वैष्णवीतन्त्र १६. वाराहीतन्त्र १७. इन्द्राणीतन्त्र १८. चामुण्डातन्त्र १६. शिवदूता तन्त्र ये ब्राह्मी आदि आठ तन्त्र उन देवताओं का प्रतिपादक करने वाले हैं २०. रूद्रयामल २१. भैरवयामल २२. शिवयामल २३. विष्णुयामल २४. स्कन्दयामल २५. ब्रह्मयामल २६. देवीयामल २७. यामलरूदयामल से लेकर ये आठ यामल हैं ये सिद्धम्बा के प्रतिपादक हैं चौंसठ तन्त्र को भी यामल इस नाम से कहते हैं २८. चन्द्रज्ञानतन्त्र कामेश्वरी आदि सौलह नित्याओं का प्रतिपादक हैं नित्या कहते हैं तिथियों को २६. मालिनीतन्त्र यह समुद्रयानोपाय प्रतिपादक हैं ३०. महासंमोहनतन्त्र जगते हुओं का भी निद्रा कैसे आजाय इस उपाय का प्रतिपादक हैं ३१. वामकेश्वरतन्त्र यह वाम लोगों से सेवित हैं इसको चतुःशती भी कहते हैं ३२. महादेव तन्त्र यह बटुक आदि सिद्ध कुलाचार प्रति पादक ३३. वातुलतन्त्र ३४. वातुलोत्तरतन्त्र ३५. कामिकतन्त्र ये तीन तन्त्र क्षेत्रकर्षण आदि विधि के प्रतिपादक हैं ३६. हृद्भेदतन्त्र यह तन्त्र कापालिकाचार का प्रदर्शक है ३७-३८.

तन्त्रभेद, गुह्यतन्त्र इनके प्रकाश वा रहस्य इनमें परकृत मन्त्र तन्त्रप्रयोगों के लौटने के उपाय प्रदर्शित हैं ३९. कालवादतन्त्र यह कामशास्त्र है और वात्स्यायन आदि का मत है ४०. कलासारतन्त्र इसमें रूप आदि की वृद्धि का उपाय प्रतिपादित है ४१. कुण्डिकामत तन्त्र–यह गुटिका सिद्धि का प्रदर्श है गुटिका पानपात्र ४२. मत्तोत्तरतन्त्र– यह रस सिद्ध का प्रकाश है ४३. वीणातन्त्र–वीणा नाम की योगिनी है जिसका दूसरा नाम सम्भोग पक्षिणी है उसके साधनोपाय का निरूपण है ४५. त्रोतल तन्त्र उत्तरतन्त्र इसमें चौसठ योगिनियो के दर्शन का उपाय वर्णित है ४६. पञ्चामृत तन्त्र पृथिवी आदि पञ्चभूतों के साधन से मरणाभाव का प्रतिपादक यह कापालिका तन्त्र है ४७-५१. रूपभेदादि पांच तन्त्र उच्चाटन आदि के प्रतिपादक है ५२-५७ सर्वज्ञानादि पांच तंत्र कापालिक सिद्धान्त के एकदेशी दिगम्बर मताचार के प्रदर्शक है ५७-६४. पूर्व तन्त्र से लेकर देवीमत पर्यन्त आठ तन्त्र दिगम्बरैक देशी क्षपणमताचार के प्रदर्शक है।

इस तरह ये तन्त्र मोहक हैं वेदिकों के लिये त्याज्य हैं इनका यहां लेखन तो केवल परिचय कराने के लिये है।॥७८॥

तन्त्रशास्त्रस्याप्रामाण्यं प्रपिपाद्य चतुष्टयं प्रमाणमित्याहुः–

आभासार्थ – तन्त्रशास्त्रों का अप्रामाण्य प्रतिपादन कर हमारे यहां चार प्रमाण है उन्हें बताते हैं–

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।।७९।।

श्लोकार्थ –हमारे मत में वेद, श्रीकृष्ण वाक्य (गीता) व्याससूत्र

और (जैमिनीसूत्र) व्यास की समाधि भाषा (श्रीमद्भागवत) ये चार प्रमाण हैं।।७६।।

वेदा इति।। वेदाः पूर्वोत्तरकाण्डस्थिता अर्थवादादिरूपा अपि। यथा बृहस्पतिः स्वां वपामुदखिद दित्यत्र वपोत्खेदे बृहस्पतेर्जीवनं न स्यादत इदं वाक्यं यज्ञप्रशस्त्याधायकम्। एवं, ग्रावाणः प्लवन्तेइत्यपि यत्रैते प्लवन्ते तत्रान्यप्लवने कः सन्देह इति नाश्मनां प्लवने तात्पर्यमिति केचित्। तन्न आद्यं बृहस्पतेर्देवत्वेन वपोत्खेदने न जीवत्वहानिरिति। द्वितीये तु सेतुबन्धनसामयिकव्यवस्थानुवादिकेयम् ऋत्यादि ज्ञेयम् विशेषतस्त्वन्यतोऽवधेयम्।। श्रीकृष्णवाक्यानि गीतायां, चकाराद् व्याससूत्राऽविरूद्धानि जेमिनिसूत्राणि।। एव मन्वादिस्मृतीनां व्यासाविरूद्धत्वेन प्रामाण्यम्। समाधिभाषा श्रीमद्भागवतम्।।७६।।

व्याख्यार्थ – पूर्वकाण्ड में स्थित एवं उत्तरकाण्ड में स्थित तथा अर्थवादरूप वेद भी प्रमाण हैं। जैसे 'बृहस्पतिः स्वां वपामुदखिदत्' यहां पर बृहस्पति ने अपनी वपा का उत्खेदन किया तो बृहस्पति का जीवन कैसे रहा ? इसलिये यह वाक्य यज्ञ की प्रशस्ती का बोधक है। इसी तरह 'ग्रावाणःप्लवन्ते' यहां पर भी ऐसे ही समझना अर्थात् जहां पत्थर तिरते हैं वहां दूसरों के तिरने में क्या संदेह है? यह इसका अर्थ है न कि पत्थरों के तिरने में इस वाक्य का तात्पर्य है, ऐसा कोई लोग कहते हैं वह ठीक नहीं। पूर्व वाक्य में बृहस्पति तो देवता है वे वपा का उत्खेदन करे तो भी उन की जीव हानि नहीं हो सकती। दूसरे राम ने सेतु बन्धन किया था उस समय की व्यवस्था का अनुवादन करने वाली यह ऋचा है ऐसा जानना चाहिये। विशेष जानकारी के लिये अन्यत्र देखें।

श्रीकृष्ण के वाक्य गीता में है चैव हि' यहां के च से व्याससूत्र से जो विरुद्ध नहीं है ऐसे जैमिनी के सूत्र भी प्रमाण हैं। इसी तरह मनुस्मृति आदि व्यास सूत्र के विरुद्ध नहीं है। समाधिभाषा से श्रीमद्भागवत का ग्रहण किया है।।।७६।।

श्रीमदाचार्यचरणैरत एव निरूपितम्।।
शाक्तास्तांश्चेत्ततो ब्रूयुस्ते सम्मार्गाद् बहिष्कृताः।।८०।।

श्लोकार्थ– इन प्रमाणें की गणना आचार्य चरणों ने अणुभाष्य में की हैं इतना शेष रह गया हैं। सन्मार्ग=वैदिकमार्ग।।८०।।

इति सर्वेषु मार्गेषु दोषाः सन्ति ततो हरिम्।।
शुद्धाद्वैतावलम्बेन भजेत सुविनिश्चितम्।।८१।

श्लोकार्थ – इस तरह सब मार्गो में दोष हैं इसलिये शुद्धाद्वैत का अवलम्बन कर भगवान् का भजन करना चाहिये यह निश्चित है।।८१।।

शुद्धाद्वैतावलम्बेनेति।। अखण्डाद्वैतभाने हि सर्वं ब्रह्मैव नान्यथेति। सर्वत्र भगवद्दृष्ट्या विषयान्तराभावः फलमिति भावः।। सुविनिश्चितमिति।। श्रुतिस्मृत्यादिष्वित्यर्थः।।८१।।

व्याख्यार्थ – अखण्ड अद्वैत का भान होने पर सब ब्रह्म ही है अन्यथा नहीं है अर्थात् सर्वत्र भगवत् दृष्टि होने से विषयान्तर का अभाव ये ही इस का फल है। सुविनिश्चत का अर्थ यह है कि शुद्धाद्वैत ही श्रुति स्मृति आदि में है।।८१।।

भजधातोः सेवार्थकत्वेन सेवालक्षणं श्रीमदाचार्यचरणोक्तमाहुः–

आभासार्थ– भज धातु का अर्थ है सेवा अतः सेवा का लक्षण जो श्रीमदाचार्य चरण ने कहा है उसे कहते है–

चेतस्तत्प्रवणं सेवा फलरूपा तु मानसी।।
तत्सिद्ध्यर्थं देहवित्तजनिः कार्या ततो भवेत्।।८२।।
संसारदुःखनाशो हि ब्रह्मात्मात्वावबोधनम्।।
ब्रह्मज्ञस्य परप्राप्तिरानन्दव्रततौ स्फुटा।।८३।।

श्लोकार्थ– चित्त की भगवान् कृष्ण में अत्यन्त आसक्ति हो जाने का नाम ही सेवा है। मानसी सेवा फलरूपा है उस मानसी सेवा की सिद्धि के लिये ही देहजा तथा वित्तजा सेवा करनी चाहिये। उस सेवा से संसार के दुःख का नाश होता है और ब्रह्मात्मता का बोधन होता है और ब्रह्मज्ञ को पर प्राप्ति होती है। यह आनन्दवल्ली में स्पष्ट लिखा है।।८२-८३।।

चेतस्तत्प्रवणं सेवेति।। इदं च सिद्धान्तमुक्तावल्ल्यामुदितम्। तत्र हि कृष्णसेवा सदा कार्येति पूर्वमुक्तत्वात्तच्छब्देन श्रीकृष्णस्य ग्रहणम्। अत्रापि, हरिमित्युक्तत्वात् तद्ग्रहणम्।। फलरूपा त्विति।। सा व्रजांगनासु। ता नाऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदमिति श्रीभागवतवचनात् इयं सर्वात्मभावकाष्ठा तृतीयाध्याये भाष्ये स्फुटा।। तत्सिद्ध्यर्थम्।। सर्वात्मभावरूपमानसीसेवासिद्ध्यर्थम् तनुवित्ताभ्यञ्जन्यते या सा तनुवित्तजनिः। उभयोः साधकत्वं, नैकस्या इति बोधनाय समस्तपदम्।।८२।।

संसारेत्यादि। संसारोऽहन्ताममतारूपः।

ब्रह्मात्मत्वाऽवबोधनमिति। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिसिद्धं, वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ इत्यादिस्मृतिसिद्धं सर्वस्य जगतो ब्रह्मत्वम्। तथ्यावबोधनं याथार्थ्यज्ञानमित्यऽर्थः। तर्हि ब्रह्मज्ञानस्य किंफलमित्याहुः।। ब्रह्मज्ञस्येत्यादि। श्रीमदाचार्यचरणैर्भाष्ये ब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपद्यते। तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति निर्णीयत इत्युक्तम्। नन्वत्र किं मानमत आहुः।। आनन्दव्रतताविति।। आनन्दवल्ल्यामित्यर्थः। वल्ली तु व्रततिर्लतेत्यमरात्। तस्यां हि ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति अर्थस्तु। ब्रह्मवित् परं ब्रह्मणः सकाशादुष्कृष्टं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीत्यर्थः। परशब्देनात्र ब्रह्मैवोच्यते तर्हि ब्रह्मैवोच्यते तर्हि ब्रह्मप्राप्तेर्ज्ञानात्मकत्वेन ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः। स त्वसंगतः। साध्यसाधनव्याघातात्। तस्मात् परशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वेन उत्कर्षस्य सांनिध्याद् ब्रह्मणः सकाशात् परं पुरुषोत्तममित्येवार्थः। विशेषतस्तद्विवक्ष्यमाणानुभवैकगम्योऽयमानन्दो, न मनोवाग्विषय इति सूचयितुमाहु तदेषेत्यादि। तदित्यव्ययम्। तद् ब्रह्मविदः परप्राप्तिलक्षमर्थं विशदतया प्रतिपाद्यत्वेनाऽभिमुखीकृत्य ऋगेषा विदितपरब्रह्मकैरुक्ता। पूर्ववाक्यविवरणमनया क्रियत इत्यर्थः तामेवाह। सत्यमित्यादि। गुहायां हृदयाकाशे, परमे व्योमन् परमव्योम्नीत्यर्थः। अक्षरब्रह्मात्मके व्यापिवैकुण्ठे, निहितं स्थापितमिव यो चैव स भक्तो ब्रह्मणा विपश्चिता। विविधभोगचतुरेणेत्यर्थः। अत्र विविधं पश्यच्चित्त्वं विपिश्चित्त्वं

पृषोदरादित्वाद् यच्छब्दलोपः तेन सह सर्वान् कामानष्नुते भुङ्क्त इत्यर्थः। अत्र तृतीयया ब्रह्मणो गौणत्वं, भक्तस्य भोगे मुख्यत्वं बोध्यते। अहं भक्तपराधीनो, वशे कुर्वन्ति मां भक्तया सत्स्त्रियः सत्पतिं यथेत्यादिवाक्यादिदमनुग्रहैकलभ्यमित्यर्थः। विशेषेतो भाष्यादवधेयम।।८३।।

व्याख्यार्थ – 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' यह सिद्धान्तमुक्तावली में कहा है वहां 'कृष्णसेवा सदा कार्या ऐसा पहले कहा है। इस लिये तत् पद से श्रीकृष्ण का ग्रहण है। और यहां भी 'हरिम्' ऐसा कहा है। इससे भी कृष्ण ही का ग्रहण होता है। फलरूपा भक्ति व्रजाङ्गनाओं के लिये भागवत में कृष्ण का वचन है कि ता नाविदन्, मेरे में व्रजाङ्गनाओं का मन ऐसा ओत प्रोत था कि उन्हें अपनी तथा इस दुनिया का कोई भान नहीं था। यह सर्वात्मभावकाष्ठा भाष्य के तीसरे अध्याय में स्पष्ट है। उस सर्वात्मभाव रूप मानसी सेवा की सिद्धि के लिये तनुजा–वित्तजा सेवा की जाती है। जिस सेवा का जन्म धन से होता है वह वित्तजा है 'देववित्तजनिः' ऐसा समस्त पद इसलिये दिया है कि तनुजा तथा वित्तजा दोनोंही के द्वारा मानसी सेवा सिद्ध होती है किसी एक के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती।।८२।।

अहन्ताममता रूप संसार का नाश होता है तथा ब्रह्मात्मत्व का अवबोध होता है 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है, इत्यादि श्रुति से सिद्ध तथा वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः इत्यादि स्मृति सिद्ध सम्पूर्ण जगत् की ब्रह्मता का ज्ञान अर्थात् उस ब्रह्मज्ञान का यथार्थज्ञान हो जाता है ब्रह्मज्ञान का फल

क्या है ? इसका उत्तर श्रीमदाचार्य चरणों ने भाष्य में दिया है कि 'ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है और जब अविद्या की निवृति हो जाती है तो वह प्राकृत धर्मो से रहित हो जाता है। तब वह शुद्धत्व से सम्पन्न हो जाता है जिससे उसे पुरूषोत्तम की प्राप्ति हो जाती है और जब पुरूषोत्तम की प्राप्ति होती है तो उसमें स्वरूप योग्यता सम्पन्न होती है। वैसे जीव का जब स्वकीय रूप से वरण हो जाता है तो भक्तिभाव से सहकारी योग्यता की सम्पत्ति के कारण उसे पुरूषोत्तम की प्राप्ति होती है ऐसा निर्णय है। यह कहा गया है। उक्त कथन में प्रमाण क्या है उस के लिये कहा है कि 'ब्रह्मज्ञस्य परप्राप्तिरानन्दव्रततौ' ब्रह्मज्ञ को पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है ऐसा आनन्दवल्ली में आया है। व्रतति का अर्थ वल्ली है इसमें 'वल्ली तु व्रततिर्लता' यह कोश प्रमाण है। उस आनन्दवल्ली में ऐसी श्रुति है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तदेषाभ्युक्ता' 'सत्यं ज्ञानमनन्ते ब्रह्म' योवेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म से ही उत्कृष्ट पुरूषोत्तम को प्राप्त होता है यह 'ब्रह्मविदाप्नोति परम् इस का अर्थ है। यदि पर शब्द से यहां ब्रह्म लिया जाता तो ब्रह्मप्राप्ति को ज्ञानात्मक बताया है तो अर्थ यह होगा कि 'ब्रह्म को प्राप्त ब्रह्म को प्राप्त होता है' यह तो असंगत अर्थ है। यहां साध्य साधन का व्याधात हो जायगा इसलिये परशब्द तो उत्कृष्ट वाची है उससे उत्कर्ष के सानिध्य से ब्रह्म से पर पुरूषोत्तम ही हो सकता है। विशेष रूप से आगे कहा जाने वाला जो अनुभवैकगम्य यह आनन्द मय तथा वाणी का विषय नहीं है इसको सूचित करने के लिये 'तदेषाभ्युक्ता' यह ऋचा है। इसमें 'तत्' यह अव्यय है इस ऋचा का अर्थ है 'ब्रह्मवेता के पर

प्राप्ति लक्षण अर्थ को विशदता से प्रतिपाद्यरूप से अभिमुख करके इस ऋचा को पर ब्रह्म को जिनने जान लिया है उनने कही है 'तत+एषा+अभ्युक्ता' पूर्व वाक्य का विवरण इस ऋचा से किया से किया गया है। उस ऋचा को कहते है 'जो सत्य ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है वह गुहायाम्=हृदयाकाश में, परमे व्योमन्=परम व्योम (आकाश) में जो अक्षर ब्रह्मात्मक व्यापि बैकुण्ठ में निहित=स्थापित की तरह है उसे जो जानता है वह भक्त विपश्चित्=विविधभोगचतुर, ब्रह्म के साथ सब भोग को प्राप्त करता है। यहां विपश्चित् का विग्रहवाक्य इस प्रकार है 'विविधां पश्यच्चितजं विपश्चित् पृषोदरादि में होने से 'यत्' शब्द का लोप होकर विपश्चित् बनता है इसलिये उसका अर्थ विविधभोगचतुर ऐसा होता है। इस ऋचा में 'ब्रह्मणासह' यहां ब्रह्म शब्द में तृतीया सह के योग में हुई है 'सहयुक्तेऽप्रधाने- इस व्याकरण के नियम के अनुसार सह के योग में होने वाली तृतीय अप्रधान (गौण) होती है जैसे 'पुत्रेण सह आगतः पिता' पुत्र के साथ पिता आया हैं यहां आने कि क्रिया में शाब्द सम्बन्ध पिता का है पुत्र का तो आर्थिक सम्बन्ध है। उसी तरह यहां सब कामनाओं के उपभोग में भक्त की मुख्यता है ब्रह्म गौण है। इसीलिये भागवत् में कहा 'अहं भक्त पराधीनः' मैं भक्त के पराधीन हूँ। 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' जैसे सती स्त्री अपने पति को वश में कर लेती उसी तरह भक्त मुझे अपना भक्ति से वश में कर लेते है। ऐसी स्थिति भगवान् के अनुग्रह के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। विशेष जानना हो तो अणुभाष्य आदि में देखना चाहिये।।८३।।

नन्वविद्यायाः प्रतिबन्धकत्वे कथं परप्राप्तिरित्याशङ्कायां, विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् • मोक्षबन्धकरी आद्ये

मायया मे विनिर्मिते, इति श्रीभागवतवाक्येन मायानिर्मितत्वादविद्यायाः। अतो मायापगमे तस्या अपि नाशो भविष्यतीत्यभिप्रायेण गीतावाक्यमाहुः–

आभासार्थ– ब्रह्म की प्राप्ति में जब अविद्या प्रति बन्धक (रूकावट डालने वाली) है तो पर (पुरूषोत्तम) की प्राप्ति कैसे होगी इस आशंका के उत्तर में कहते है कि 'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। मोक्षबन्धकारी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' भगवान् कृष्ण उद्धवजी से कहते है उद्धव! विद्या और अविद्या ये दोनों मेरा शरीर है ऐसा तुम समझो। शरीरधारियों के लिये विद्या मोक्ष देने वाली है और अविद्या बन्धन करने वाली है ये दोनों मेरी माया से निर्मित है और आद्य हैं' इस भागवत के वाक्य से अविद्या को माया निर्मित बताया है अतः माया की निवृत्ति होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जायेगी इस अभिप्राय से गीता का वाक्य देते हैं।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।
इतिवाक्यात्तु भक्तानामविद्याविनिवृत्तितः।।८४।।

श्लोकार्थ– जो मेरे शरण हो जाते हैं वे इस माया को तिर जाते हैं इस गीता के वाक्य से भक्तों की अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।।८४।।

मामेवेत्यादि।। एवकारेणाऽन्यप्रपत्तिर्न मायातरणकारिका। अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा • मत्तः परतरं किञ्चिन्नान्यदस्ति धनञ्जय इत्यादि श्रीमुखवाक्यात् पुरूषोत्तमस्य सर्वोत्कृष्ट ज्ञाने प्रपत्तिर्भवति। एतादृशज्ञानस्य फलं तु, असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु • यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते इति

वाक्यादक्षरज्ञानादिकं सर्वं सुलभमतो भक्तानां तु श्रीकृष्णप्रपत्त्यैवाविद्यानिवृत्तिरिति भावः।।८४।।

व्याख्यार्थ– मामेव में जो एव है उसका तात्पर्य यह कि किसी और की शरण ग्रहण करने पर माया को नहीं तिर सकता भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा कि जब पुरूषोत्तम को सर्वोत्कृष्ट जान लेता है तब प्रपत्ति होती है 'अहं सर्वस्य जगतः– 'मै सारे जगत् को उत्पन्न करता हूं और उस का प्रलय भी करता हूं। हे धनञ्जय ! मुझसे बढकर और दूसरा ऐसा कोई नहीं है। ऐसा ज्ञान जब हो जाता है तब उस का फल 'निःसंदेह सम्पूर्ण ब्रह्म मुझको जिस प्रकार जानेगा उसे तू सुन। जिसे जान लेने पर फिर कोई जानना बाकी नहीं रहता, इस वाक्य से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान आदि सब सुलभ है। अतः भक्तों की अविद्या निवृत्ति श्रीकृष्ण की प्रपत्ति से होती है।।८४।।

ततः किमत आहुः–

आभासार्थ – उसके बाद क्या होगा इसके लिये कहते है।

अलौकिकारसिद्ध्यै प्रवेशो हरिणोदितः।।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।।८५।।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।
इति वाक्येन भगवद्गृहं ब्रह्म प्रकीर्तितम्।।८६।।

श्लोकार्थ– अलौकिक आकार की सिद्धि के लिये भगवान् ने प्रवेश कहा है। अव्यक्त जिसे अक्षर ब्रह्म कहते है उसकी परम गति कहते है 'जिसे प्राप्त कर वहां से लौटता नहीं वह मेरा परम पद में, इस वाक्य से अक्षर ब्रह्म को भगवान् का घर बताया

है।।८५-८६।।

अलौकिकाारसिद्धया इति।। सिद्धयर्थमित्यर्थः। प्रवेश इति। यथा सैन्धवखिल्य उदकेप्रास्त उदक मेवानुविलीयते, नद्यः प्रविष्टा इव नाम रूपे इत्यादिश्रुतिसिद्धप्रवेश इत्यर्थः।। हरिणेति।। श्रीकृष्णेनेत्यर्थः गीतायामिति शेषः। विशते तदनन्तरम्, ज्ञातुं दुष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपेत्यादिश्लोकैरित्यर्थः ननु अक्षरे लये कथं पुरूषोत्तमप्राप्तिरित्याशङ्कायां तस्य पुरूषोत्तमगृह रूपत्वात् तत्र प्रवेशे प्राप्तिर्भवतीति तत्पुरूषोत्तमगृहे गीताप्रमाणमाहुः।। अव्यक्त इत्यादि। अक्षर ब्रह्मणोऽव्यक्त इति नाम। एतेनाऽव्यक्त शब्दो माया वाचक इत्यपास्तम्। अव्यक्तादीनी त्यत्राव्यक्त शब्देनाक्षरब्रह्मैव ज्ञेयम्। एतेन जगतो मायिकत्वं निरस्तम्।। परमां • सर्वोत्कृष्टां गतिं मोक्षरूपाम् आहुः तत्वविद इति शेषः।।८५।।

न निवर्त्तन्त इति।। न स पुनरावर्त्तत इति श्रुतेः। मम क्षराक्षरातीतपुरूषोत्तमस्य धाम गृहमित्यर्थः। अत्र भक्तानां त्वक्षरं ब्रह्म पुरूषोत्तमगृहरूपत्वेन, ज्ञानिनां ब्रह्मत्वेन, पुरूषोत्तमस्येव, मल्लानामशनिरित्यादिस्वभावानुसारेण। यद्यद्धिया त उरूगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय, इति श्री भागवतात्।।८६।।

व्याख्यार्थ– प्रवेश का आशय है जैसे 'सैन्धव (नमक) का टुकडा जल में डाल दिया जाय तो वह जल में जैसे लीन हो जाता है उसकी अलग स्थिति नहीं रहती अथवा जैसे समुद्र में प्रविष्ट नदियों के नाम रूप अलग नहीं रहते उसी तरह भगवान् में प्रवेश होने पर अलौकिक आकार का हो जाता है। हरि=श्रीकृष्ण। 'हरिणा उदितः' कहा उसमें 'गीतायां' इतना और कहना था। भगवान् कृष्ण

ने अलौकिक आकारी सिद्धि के लिये जिन गीता वाक्य में प्रवेश के लिये कहा है वे ये है विशत तदनन्तरम्' ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप' अक्षर में यदि लय होगा तो पुरूषोत्तम की प्राप्ति कैसे होगी इस आशंका के निवार्णार्थ अक्षर ब्रह्म को पुरूषोत्तम का घर बताया है जब गृहरूप अक्षर ब्रह्म में प्रवेश होगा तो पुरूषोत्तम की प्राप्ति हो ही जायेगी। अक्षर ब्रह्म पुरूषोत्तम का घर है इसमें 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त स्तमाहुः परमां गतिम्' यह गीता वाक्य प्रमाण है। अक्षर ब्रह्म ही का नाम अव्यक्त है। इससे अव्यक्तशब्द माया वाचक है इस कथन का खण्डन हो जाता है। 'अव्यक्तादीनिभूतानि'' यहां अव्यक्त शब्द से अक्षर ब्रह्म ही जाना जाता है। इससे जो जगत् को मायिक मानते थे वह भी निरस्त हो गया। 'परमां गतिम्' का अर्थ है सर्वोत्कृष्ट गति जिसे मोक्ष कहते है। कौन कहते है ऐसा प्रश्न यहां होता है उसके उत्तर के लिये 'तत्त्वविदः' इतना शेष रह गया है अर्थात् तत्वेत्ता लोग जिसे परमगति कहते है।।८५।।

वह फिर लौटता नहीं 'न स पुनरावर्तत ऐसी श्रुति है। क्षर और अक्षर से अतीत (परे) मेरा पुरूषोत्तम का धाम (घर) हैं यहां भक्तों के लिये तो अक्षर ब्रह्म पुरूषोत्तम का घर रूप है और ज्ञानियों के लिये ब्रह्मरूप है। जैसे पुरूषोत्तम कंस के रंगस्थल में मल्लों का व्रज के समान स्त्रियों के लिये कामदेव के समान आदि अपनी भावना के अनुसार अनेक रूप से दिखाई दिये थे भागवत में जैसे कहा है कि 'जिस प्रकार की बुद्धि से आपकी भावना भक्त करते है आप वैसा रूप बना लेते है।।८६।।

तर्ह्यक्षरब्रह्मैव परं प्राप्यस्थानमिति चेत्, तत्राहुः–

आभासार्थ– तब तो अक्षर ब्रह्म ही परम प्राप्य स्थान है ऐसा यदि कहोगे तो उसके लिये कहते है।

पुरूषः स पर पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।।
इत्यग्रिमेण वाक्येन गेहाधीशो निरूपितः।।८७।

श्लोकार्थ– हे पार्थ! वह (पुरूषोत्तम) अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। गीता के इस अग्रिम वाक्य में गृहस्वामी (पुरूषोत्तम) का निरूपण किया है।।८७।।

पुरूष इत्यादि।। यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे य प्रथितः पुरूषोत्तम इति वाक्यात्। परः पुरूषः पुरूषोत्तमः। श्रीकृष्णः इत्यर्थः। अत्र सिद्धान्ते जन्ममरणाद्युपाधितया क्षरो जीवः। अक्षरोऽन्तर्यामी। अक्षराऽतीतः पुरूषोत्तमः। द्वाविमौ पुरूषौ लोक इत्यादिगीतावाक्यात्। अयंविचारः श्रुतिरहस्य प्रकाशे निपुणतया निरूपिता मयेति नेह तन्यते।।८७।।

व्याख्यार्थ– मैं क्षर से पर और अक्षर से भी उत्तम हूँ अतः मैं लोक में तथा वेद में पुरूषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ इस प्रकार के गीता के वाक्य से पर पुरूष पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण है। यहां सिद्धान्त में जन्म मरण आदि उपाधियों से युक्त को क्षर अर्थात् जीव कहा है। अन्तर्यामी अक्षर है और अक्षर से भी पर पुरूषोत्तम है। क्षर और अक्षर को लोक में पुरूष कहते हैं' ऐसा गीता का वाक्य है। इसका विचार श्रुति रहस्य के प्रकाश में निपुणता से मेरे द्वारा (रामकृष्ण भट्ट के द्वारा) किया गया है अतः यहां उसका अधिक विवेचन नहीं है।।८७।।

पुरूषोत्तमलाभः कथं, तत्राहुः–

आभासार्थ– पुरूषोत्तम का लाभ कैसे होगा उसके लिये कहते है।

भक्त्या लाभो हि निर्दिष्टो भक्तिश्चार्यसंश्रयात्।।
श्रीमदाचार्यचरणभजनादेव नान्यथा।।८८।।

श्लोकार्थ– भक्ति से ही पुरूषोत्तम का लाभ कहा है वह भक्ति श्रीमदाचार्यचरणों के आश्रय से तथा आचार्यचरणों के भजन से ही हो सकती है अन्यथा नहीं।।८८।।

भक्त्येति। श्रीमदाचार्यचरणेत्यादि। अत्र क्रमस्तु पूर्वं भगवत्कृपाऽङ्कुरस्यस्वतःसंस्कारेण भगवनमार्गीयसङ्गादिना वा उद्बोधे मार्गेऽस्मिन् रूचिः। ततोऽस्मिन् प्रवेशेच्छा। तत्राप्यङ्करस्य दृढत्वेऽस्मिन्मार्गेसर्वोत्तमत्वभानम्।
प्रवेशश्चद्वारभूतश्रीमदाचार्यकुलगुरूद्वारा शरणागतिः। ततः शुद्धः कृष्णं भजेदितिसिद्धान्तात् सपरिकरस्य स्वस्यरूप च शुद्धिरपेक्षिताः। सा लोके दुर्घटाऽतो, दारान्, सुतान्, गृहान्, प्राणान् यत् परस्मै निवेदनमिति विधिपूर्वकं सिद्ध समर्पणम्। तेन च, ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादिवाक्येन सर्वदोषनिरासोक्तः समर्पणोत्तरं सर्वत्र दोषाभावात् प्रतीयमानानां चाभासमात्रत्वाद् गङ्गाजलन्यायेन दोषाणां गौणभावाच्च सेवायामधिकारः। ततः सतां, द्वारभूत श्रीगुरोर्वा संगेन शिक्षया वा, श्रीमदाचार्याचरणेषु भगवदभेदबुद्धिः। सर्वोत्तमस्तोत्रादिभिस्तद्भजनम्। तत एतन्मार्गीयसंगेन भगवद्भजनस्वकीयग्रन्थावलोकन श्रवणादिना प्रतिबन्धनिवृत्तौ दोषनिवृत्तिः। सेवोपयोगिगुणवृद्धिश्च। ततः सेवानैरन्तर्ये सकुटुम्बस्य भगवत्प्राप्तिरिति।। अन्यथेति।।

श्रीमदाचार्यचरणशरणं विनेत्यर्थः। अत एव श्रीहरिराया आहुः–

नाश्रितो वल्लभाधीशो, न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले, इति।।
वृथेत्यस्य निष्फलमित्यर्थः ।।८८।।

व्याख्यार्थ– भक्ति की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है– सर्व प्रथम तो भगवान् की कृपा का अंकुर स्वतः संस्कार से अथवा भगवनमार्गीय के संग आदि से उदबुद्ध होता है तब इस (भक्ति) मार्ग में रूचि होती है तब इस मार्ग में प्रवेश की इच्छा होती है उस में भी अंकुर यदि दृढ (मजबूत) होता है। यह मार्ग सर्वोतम है ऐसा भान होता है इस मार्ग में प्रवेश तो इस मार्ग के द्वारभूत श्रीमदाचार्य कुल के गुरू द्वारा शरणागति है। इसके बाद शुद्ध होता है तब कृष्ण को भजता है ऐसा सिद्धान्त है। इस मार्ग में परिकर सहित स्वयं की शुद्धि अपेक्षित है वह लोक में दुर्घट (असंभव) है अतः 'दारान्, सुतान्, गृहान्, प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्' स्त्री, पुत्र, घर, प्राण इनका निवेदन पुरूषोत्तम के लिये करना चाहिये, इस प्रकार विधिपूर्वक सिद्ध समर्पण जब होता है तब उससे अर्थात् ब्रह्मसम्बन्ध के करने से सर्वदोष की निवृति हो जाती है ऐसा 'ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोष निवृतिर्हि– 'कहा है। समर्पण के अनन्तर सर्वत्र दोष का अभाव होने से और प्रतीयमान दोष भी केवल आभासमात्र ही हैं। गंगाजलन्यास से दोषों में गौणता होने से सेवा में अधिकार हो जाता है। तब सज्जनों के संग से अथवा उनकी शिक्षा से श्रीमदाचार्यचरणों में भगवद् बुद्धि हो जाती है और सर्वोत्तमस्तोत्र आदि के द्वारा आचार्य

चरण का भजन करता हैं। तब एतन्मार्गीय के संग भगवद्भजन स्वमार्गीय ग्रन्थों का अवलोकन उनका श्रवण आदि से प्रतिबन्धक की निवृति होने पर दोष निवृत होते हैं और सेवोपयोगी गुण की वृद्धि होती हैं और जब निरन्तर सेवा होने लगती हैं तो सकुटुम्ब को भगवत्प्राप्ति होती है बिना आचार्यचरणों की शरण के यह नहीं होता इसलिये श्री हरिरायजी ने कहा है–

जिसने वल्लभाधीश का आश्रय ग्रहण नहीं किया और न सुबोधिनी देखी और न श्रीकृष्ण की आराधना की उसका जन्म पृथ्वी पर निष्फल है।।८८।।

श्रीमदाचार्यचरणद्वाराअंगीकृतस्य लीलाधिकारिणो यत् करोति भगवांस्तदाहुः–

आभासार्थ– श्रीमदाचार्यचरण द्वारा अंगीकृत लीलाधिकारी जीव के लिये भगवान् जो करते हैं उसे कहते

ब्रह्मभावं तु सम्पाद्य परमानुग्रहाद् विभुः।।
गृहस्थितं स्वीयजीवं समुद्धरति यत्नतः।।८६।।

श्लोकार्थ– विभु भगवान् श्रीकृष्ण परम अनुग्रह से जीव का ब्रह्मभावसंपादन करके गृहस्थित स्वकीय जीव का प्रयत्न के साथ उद्धार करते हैं।।८६।।

ब्रह्मभावमित्यादि।। यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयत इत्यादिश्रुत्या, नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे इत्यादिश्रुत्या, विशते तदनन्तरमिति स्मृत्या निरूपिते ब्रह्मणि लयो

ब्रह्मभाव सम्पत्ति। तादृशं कृत्वेत्यर्थः।। परमानुग्रहात्।। स्वीयत्वेनाङ्गीकारात् यमेवैष वृणुते तेन लभ्य इति श्रुतेः। मुक्तिदाने तु सर्वेभ्यः। भक्तिं तु परमानुगृहीतस्यैव। मुक्तिंददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमिति श्रीभागवतोक्तेः। अक्षरं ब्रह्म पुरूषोत्तमस्य गृहम्। तत्र ब्रह्मैक्यतया स्थितं स्वयं समुद्धरति। तस्मात् पृथक् करोतीत्यर्थः।। यत्नत इत्यनेन तस्योपरि स्नेहभरेण तद्वियोगाऽसहिष्णुस्तस्योद्धरणे इच्छां करोतीति सिद्धम्। अत्र प्रमाणं तु व्याससूत्रं सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दादिति। ब्रह्मभावं सम्पाद्य स्वेन पुरूषोत्तमेनाविर्भावः क्रियते। एवं कथमुच्यते, तत्राह। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेतिशब्दात्। अत्र पुरूषोत्तमसाहित्येन सर्वकामोपभोगो जीवस्य निरूपितः। स लीनस्योद्धरणं विना न सम्भवत्यस्मादुद्धरतीस्त्यर्थः। तथाच। श्रीभागवते–

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।

ददृशुर्ब्रह्मणो लोकमिति।। श्रीमदाचार्यचरणैरपि फलप्रकरणप्रारम्भे–

ब्रह्मा नन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्जते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते, इति।।

शुद्धपुष्टिलीलास्थजीवानां तु न ब्रह्मणि सायुज्यमुद्धरणं च अत एव गोपानामेव मग्नत्वमुद्धृतत्वमुक्तं, न व्रजसुन्दरीणाम्। अत एव दामोदरदासादिषु लीलानुभवः स्पष्टः संङ्गच्छते। नन्दलौकिकदेहाप्तौ देहस्यानित्यत्वमायातम् तद्विषयिण्या लीलाया

अपीति चेन्न। पुरूषोत्तमस्य लीलाया नित्यत्वं श्रुति स्मृतिन्यायादिसिद्धम् उपपादितं चास्मत्प्रभुचरणैर्विद्वन्मण्डने। भक्तविषयिण्या लीलाया अपि नित्यत्वं, ध्रुवासोऽस्य कीरय इति श्रुतिसिद्धम् यथाऽक्षरब्रह्मणः सर्वत्र व्यापकत्वमेवं भगवद्भक्तस्यालौकिकाकारस्य व्यापकत्वेन प्राकृतशरीरेऽपि तिरोहिततया वर्त्तमानन्दाऽऽकाररूपम् अत एव, निराकारास्तदिच्छयेत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः आनन्दस्यैवाकारत्वेन तत्तिरोधाने तिराकारत्वम्। तत्प्रादुर्भावे साकारत्वमेवं तद्विषयिण्या लीलायास्तदैवाविर्भावः। अतो नानित्यत्वमिति दिक्।।

येषां तु सायुज्यं, तेषामलौकिकाकाराप्रादुर्भावार्थमेव लयः। मर्यादायास्तथात्वात्। येषां च, तेषां तच्छरीर एवालौकिकाकारस्याविर्भावात्। ननु लीलानुभावार्थमाविर्भावे पुरूषोत्तमेन सह भेदो जीवस्यायात इति चेत्, सत्यम्। अत्र लीलास्थानां ब्रह्मरूपत्वेन न भेद इति। वस्तुतस्तु जीवस्याभेदोऽक्षरब्रह्मणा सह। अभेदबोधकाश्च श्रुत्यादयोऽक्षरब्रह्माऽभेदं बोधयन्ति, न पुरूषोत्तमाऽभेदम्। तथाच श्रीमदाचार्यचरणाः, पुरूषोत्तमे लयेन लीलाननुभवे नाश एव स इति। अत एव श्रीमत्प्रभुचरणपौत्रैर्देवकीनन्दनैः, अक्षरेण सहैक्यं हि जीवस्य श्रुतयो जगुरित्युक्तम्। अत एव, परेणाऽभेदबोधको मार्गस्तामसानामिति पाद्मे उत्तरखण्ड उक्तं शिवेन–

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् • येषां स्मरणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपीति प्रतिज्ञाय, शैवपाशुपतवैशेषिकन्यायसांख्यचार्वाकबौद्धशास्त्राणि तामसीनीत्युक्त्वा–

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते।
सर्वकर्मपरिभ्रष्टं विकर्मत्वं तदुच्यते।
परेशजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते।
ब्रह्मणस्तु परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया।
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे।
वेदार्थवन्महच्छास्त्रं मायावादमवैदिकम्।
मयैव कथितं देवि जगतां नाशकारणाद् इति।।

नागोजीभट्टस्तु मार्कण्डेयान्तर्गतदेवीमाहात्म्यटीकायां, मायावादमितिश्लोके चरणत्रयं यथास्थितं पठित्वा, जगतां नाशकारणादिति पपाठेति, तत्तु प्राचीनर्वाचीनसन्दर्भावलोकनेन ब्राह्मणरूपिणेति प्रतिभातीति तुच्छमेवेति। अत एव सायुज्यं लयः। सह युनक्तीति सहयुक्, सहयुजो भावः सायुज्यमित्यर्थद्वयं ब्रह्मपरब्रह्मविषयत्वेन संगतं भवतीति दिङ्मात्रमुक्तम्।।८६।।

व्याख्यार्थ– जैसे 'सैन्धव का टुकडा जल में डालने पर उसमें विलीन हो जाता है और जैसे 'समुद्र में प्रविष्ट होने के बाद नदियां अपने नाम रूप से विलीन हो जाती है इन श्रुतियां से 'विशते तदनन्तरम्' इस स्मृति से निरूपित तथा जीव ब्रह्म में जीव का लय, ब्रह्मभावसम्पत्ति को करके परम अनुग्रह से अर्थात् स्वकीयरूप से अंगीकार करने के कारण भगवान् उनको प्राप्त होते है 'यमेवैषवृणुतेतेनलभ्यः इसी में यह श्रुति प्रमाण है मुक्ति तो

सब के लिये भगवान् देते है किन्तु भक्ति तो भगवान् उन्हीं को देते है जिस पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इसमें यह भागवत का वाक्य प्रमाण है। अक्षर ब्रह्म पुरूषोत्तम का घर है अक्षर ब्रह्म में अभिन्नरूप से रहने वाले जीव का स्वयं भगवान् उद्धार करते है अर्थात् उसे उससे अलग करते है। यत्नतः ऐसा पद इसलिये दिया है भगवान् का भक्त के ऊपर इतना स्नेह होता है कि उस (भक्त) का विरह भगवान् सहन नहीं कर सकते अतः उसके उद्धार की इच्छा करते हैं ऐसा सिद्ध होता हैं इसमें प्रमाण व्यास सूत्र है 'सम्पद्याविर्भावः' स्वेन शब्दात् भक्त में ब्रह्मभाव का संपादन कर स्वेन=पुरूषोत्तमरूप से आविर्भाव किया जाता है इस में 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' ये शब्द प्रमाण है। यहां पुरूषोत्तम का सान्निध्य होने से सब प्रकार के भोगों का निरूपण जीव के लिये किया गया है। वह भोग लीन हुए जीव का जब तक उद्धार (पार्थक्य) नहीं होता तब तक संभव नहीं इसलिये उद्धार करते हैं ऐसा कहते है। यह तत्तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इस भागवत् वाक्य में स्पष्ट है। श्रीमदाचार्यचरणों ने फल प्रकरण के प्रारम्भ ब्रह्मनन्दान् समुद्धृत्य भजनानन्द योजते। लीलायायुज्जते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते शुद्धपुष्टिलीला के जीवों का न तो ब्रह्म में सायुज्य होता है और न उसका उद्धार। अत एव गोपों का ही मग्नत्व और उद्धार बताया है व्रजसुन्दरियां न तो मग्न हुई हैं और न उनका उद्धार ही किया। इसलिये दामोदरदास आदि में लीलानुभव स्पष्ट ही संगत होता हैं। शंका होती है कि अलौकिक देह की प्राप्ति होने

पर देह में अनित्यता आ जायेगी और तद्विषयिणी लीला में अनित्यता आ जायेगी ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। भगवान् पुरूषोत्तम की लीला नित्य है यह श्रुति स्मृति तथा व्याससूत्र से सिद्ध है इसे हमारे प्रभु चरणों ने विद्वन्मण्डन में प्रतिपादित किया है। भक्त विषयिणी लीला की भी नित्यता है यह है 'ध्रुवासोऽस्य कीरयः' इस श्रुति से सिद्ध है। जिस प्रकार अक्षर ब्रह्म की सर्वत्र व्यापकता है उसी प्रकार भगवद्भक्त के अलौकिकाकार की व्यापकता है भक्त के प्राकृत शरीर में भी आनन्दाकाररूप तिरोहितरूप से वर्तमान है अत एव श्रीमदाचार्यचरणों ने 'निराकारास्तदिच्छया' भक्त भगवान् की इच्छा से ही निराकार है ऐसा कहा है। आनन्द ही तो आकार है जब उस आनन्द का तिरोधान होता है तो उसमें निराकारता आ जाती है और जब भगवदिच्छा से आनन्द का आविर्भास हो जाता है तो उस में साकारता हो जाती है और तद्विषियिणी लीला का आविर्भाव भी तभी होता है। अतः अलौकिक देह और तद्विषियिणी लीला में अनित्यता नहीं होती है।

जिनका सायुज्य होता है उनके अलौकिकाकार का प्रादुर्भाव हो इसलिये लय होता है क्योंकि मर्यादा वैसी ही है। जिनका लय नहीं होता उनके उसी शरीर में ही अलौकिकाकार का प्रादुर्भाव हो जाता है। शंका होती है कि भगवान् अपने भक्त को लीला का अनुभव कराने के लिये उसका आविर्भाव करते है तो जीव का पुरूषोत्तम के साथ भेद है ऐसा आजायेगा यह यद्यपि सत्य है परन्तु यहां लीलास्थ जीवों का ब्रह्मत्वरूप से कोई भेद नहीं हैं वास्तव में तो जीव का अभेद अक्षर ब्रह्म के साथ है और अभेद बोधक श्रुतियां भी अक्षर ब्रह्म से ही जीव का अभेद बोधन

करती है न कि पुरूषोत्तम के साथ अभेद। एत एव श्रीमदाचार्यचरणों ने कहा है कि पुरूषोत्तम में लय होकर लीला का अनुभव करता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो वह तो जीव का लय क्या होगा नाश हो जायेगा। इसलिये श्रीमत्प्रभुचरणों के पौत्र श्रीदेवकीनन्दन जी 'अक्षेरण सहैक्यं हि जीवस्य श्रुतयोजगुः' श्रुतियों में जो जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य बताया है। वह अक्षर ब्रह्म के साथ है ऐसा कहा। अतएव पर के साथ अभेद बोधक मार्ग तामसों का है ऐसा पद्मपुराण के उत्तम खण्ड में शिवजी ने कहा है। 'हे देवि मैं मुझे क्रम प्राप्त तामस मार्ग कहता हूं जिसे तू सुन। जिस तामस मार्ग के याद करने मात्र से ज्ञानियों का भी पतन हो जाता है, ऐसी प्रतिज्ञा करके शैव, पाशुपत, वैशेषिक, न्याय सांख्य, चार्वाक, बौद्‌ध ये सब शास्त्र तामस है ऐसा कहकर 'मायावाद असत् शास्त्र है इसे प्रच्छन्न (छिपा) बौद्‌ध कहते है। कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण कर मैंने ही इसे कहा है। श्रुतियों वाक्यों की निरर्थकता लोकगर्हिततता को दिखाते हुए कर्म स्वरूप की त्याज्यता का भी इसमें प्रतिपादन किया है। सर्वकर्मपरिभ्रष्टं विकर्मत्वं उसे कहा जाता है। परेश और जीव का ऐक्य मैंने इसमें प्रतिपादन किया है। 'सर्व कर्म परिभ्रष्टं विकर्मत्व' उसे कहा जाता है परेश और जीव का एक्य मैंने इसमें प्रतिपादन किया है मेरे ही द्वारा ब्रह्म का रूप निर्गुण कहा गया है। यह सारा प्रयत्न कलियुग में संपूर्ण जगत् को मोहित करने के लिये किया गया है। वेदार्थ की तरह ही अवैदिक मायावाद महत् शास्त्र मैंने ही कहा है यह सब जगत् के नाश के लिये कहा है।

नागोजी भट्ट ने मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवीमाहात्म्य की टीका में 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि' इन तीन चरणों का यथास्थित पढा (लिखा) चतुर्थ चरण 'कलौ ब्राह्मणरूपिणा' की जगह जगतां नाश कारणात्' ऐसा पढा है। वह तो प्राचीन और अर्वाचीन सन्दर्भ के देखने से 'ब्रह्मणरूपिणा' यह प्रतिभासित हो ही जाता है फिर ऐसा पाठभेद करने में कोई सार नहीं। अत एव सायुज्य का अर्थ है लय। सायुज्य का विग्रह वाक्य इस प्रकार है 'सह युनक्तीति सहयुक्, सहयुजो भावः सहायुज्जम्, ये दोनों अर्थ अर्थात् लय तथा सहयोग क्रमशः ब्रह्म परब्रह्म का विषय मानेंगे तब ही संगति बैठेगी यह केवल दिग्दर्शनमात्र यहां है।।८६।।

ननूद्धारानन्तरं तस्य कथं स्थितिस्तत्राहुः–

आभासार्थ– जब जीव का भगवान् उद्धार करते है तब उसकी स्थिति कैसी होती है वहां कहते है।

उद्धृतौ परमक्लेशो विरहाऽनलसम्भवः।।
यदा देहादिनाशाय समर्थो जायते तदा।।६०।।
निजं श्रीमत्कृष्णचन्द्रः स्वाधिकारानुसारतः।।
परमानन्द लीलां तामनुभावयति प्रभुः।।६१।।

श्लोकार्थ– जिस समय भगवान् जीव का उद्धार करते हैं उस समय उस जीव को विरहानलजन्य परमक्लेश होता हैं किन्तु जब वह देहादि नाश के लिये समर्थ हो जाता है तब श्रीकृष्णचन्द्र अपने भक्त के अधिकार के अनुसार उस परमानन्दलीला का अनुभव कराते है।।।६०-६।।

उद्धृताविति।। भक्तस्य ब्रह्मानन्दादुद्धृतौ। विरहानलाद्वियोगाग्नेः सकाशात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य, एतादृशो यः क्लेशो देहादिनाशय यदा समर्थो जायते, तदेत्यन्वयः। यद्वापरमक्लेशो विरहानल सम्भवस्ताप इति शेषः। तदा तस्मिन् काले।।६०।।

निजं जीवं परमकारुणिकः श्रीमत्कृष्णचन्द्रो यथाधिकारं परमानन्दलीलामनुभावयतीत्यर्थः। गणितानन्दव्यावृत्त्यर्थं परमेतयानन्दस्य विशेषणम्।। ताम् अनुग्रहैकलभ्याम्। प्रभुः समर्थः।। अनुभवे भक्तस्य प्राधान्यं तदुदित प्राक्। रसो वै सः, रसंःह्येवायं लब्धवानन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति इति श्रुतिः अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानन्दी भवतीत्यानन्दवत्वमुक्त्वा जीवनहेतुत्वं परमानन्दहेतुत्वं चोच्चते। मरणहेतुपस्थित्यभावे जीवनहेतुं न वदेत्। अतो रसस्य संयोग वियोगभावत्वेन पूर्णतया विरहतापस्योपमर्द्दकत्वेन प्राणास्थितिरपि न स्याद् यद्येषः स्फुरद्रूपः, आनन्दः आकाशो भगवान् न स्यात् को वा जीवयेन्न कोऽपीत्यर्थः। एतादृशापन्निवारणं भगवतः एवेति ज्ञापनाय श्रुतौ हि–शब्दः। तादृस्य जीवनमावश्यकमिति ज्ञापनायैवकारः। तापात्मकस्यानन्दरूपत्वायानन्दपदम्। तदनन्तरं प्रकटीभूय तदन्यः को वा दर्शनस्पर्शाश्लेषणभाषणादिभिः रूपरूपा नन्ददानेनाऽन्यात् पूर्व तापनिवृत्ति तापनिवृत्ति पूर्वकमानन्दपूर्ण कुर्यादित्यर्थः अन्यथाऽन्यात् प्राण्यादित्युभयत्र अनितेः सत्वात् पौनरूक्तयं स्यादिति। श्रीमद्भाष्यकारचरणैः स्पष्टो ह्येकेषामिति सूत्रे, एकेषां शाखिनां भगवत्स्वरूपलाभाऽनन्तरं दुःखतन्निवर्तनलक्षणोऽर्थः स्पष्टः पठ्यत इत्युक्तमिति विस्तरावलोकनेच्छुभिस्ततोऽवधेयम्। दुःखस्य

परमफलरूपत्वं तु भाष्यविद्वन्मण्डनादौ निरूपितम्। मयाऽपि श्रुतिरहस्यप्रकाशेप्राकाशि।।६१।।

व्याख्यार्थ – भक्त को ब्रह्मानन्द से उद्धृत (अलग) करते हैं तब वियोगाग्नि से जिस की उत्पत्ति है ऐसा जो परमक्लेश उससे देहादि के नाश के लिये जब समर्थ हो जाता है तब इस तरहका अन्वय है। अथवा परमक्लेशः 'विरहानल सम्भवः' इसके आगे तापः ऐसा जो शेष रह गया है उसे जोड देना चाहिये। तदा=उस समय।।६०।।

परमकारूणिक श्रीमान् कृष्णचन्द्र अपने जीव को अधिकार के अनुसार परमानन्दलीला का अनुभव कराते है। गणितानन्द की व्यावृत्ति के लिये आनन्द के साथ परम ऐसा विशेषण जोडा गया है। अर्थात् परमानन्द का अनुभव कराते हैं गणितानन्द का नहीं। परमानन्दलीला केवल भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है इस को 'ताम्' यह सूचित करता है। प्रभुः=समर्थ। लीलानुभव में भक्त की प्रधानता है ब्रह्म गौण है यह पहले ही कहा जा चुका है। 'रसोवैस' रसःह्येवायंलब्ध्वानन्दीभवति' को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' एष ह्येवानन्दयति' ये श्रुति है इन में रसात्मक जो भगवत्स्वरूप है उसका लाभ होने पर ही आनन्दयुक्त होता है। इस प्रकार आनन्दवत्त्व कहकर उसी आनन्द का जीवन हेतु और परमानन्द का हेतु कहा हैं। जब तक मरण का हेतु उपस्थित न हो तब तक कोई जीवन का हेतु नहीं कहता। संयोग तथा वियोग भाव से ही रस की पूर्णता होती है। एकभाव से रस का अनुभव नहीं

होता वहां विरहताप के अत्यन्त उपमर्दक होने से प्राण स्थिति भी नहीं रहती यदि यह देदीप्यमान आनन्द भगवान् न हो तो कौन जी सकता है अर्थात् कोई नहीं जी सकता। ऐसी आपत्ति का निवारण भगवान् के द्वारा ही होता है यह जताने के लिये श्रुति में 'हि' शब्द दिया है। वैसे का जीवन भी आवश्यक है यह बताने के लिये एवं ऐसा दिया है। तापात्मक भी आनन्दरूप है अतः आनन्द पद दिया है। तापानन्द के अनन्तर प्रकट ही कर उससे अन्य ऐसा कौन है जो दर्शन स्पर्श आश्लेषण, संभाषण आदि से स्वरूपानन्द का दान कर पूर्वतापनिवृत्तिपूर्वक आनन्दपूर्ण करे। इस का अर्थ यदि इस प्रकार का न होता तो 'अन्यात् और प्राण्यात् इन दोनों जगह 'अन्' धातु के होने से पुनरुक्ति हो जाती है। श्रीभाष्यकार आचार्य चरणों ने 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इस ब्रह्मसूत्र में किसी शाखा वालों के यहां भगवत्स्वरूप लाभ के अनन्तर दुःख और दुःखनिवृत्तिरूप अर्थ स्पष्ट पढा गया है ऐसा कहा हैं। विस्तारावलोकनेच्छुकों को 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इस सूत्र के भाष्य में देखना चाहिये। दुःख की परमफलरूपता भाष्य एवं विद्वन्मडन आदि में निरूपित है। मैंने (रामकृष्ण भट्ट ने) भी श्रुति रहस्य के प्रकाश में इस पर प्रकाश डाला है।।६१।।

एतत्प्रान्प्तौ मुख्यं कारणमाहुः–

आभासार्थ – परमानन्द लीला के अनुभव की प्राप्ति में मुख्य कारण कहते है–

इति श्रीवल्लभाचार्यचणाब्जकृपाभरात् ।।
प्राप्यते नान्यथा चैतद् ब्रह्मादीनां सुदुर्लभम् ।।६२।।

श्लोकार्थ– इस प्रकार ब्रह्मादिकों को भी सुदुर्लभ (लीलास्वाद) श्री वल्लभाचार्य के चरण कमलों की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं।।६२।।

इति श्री वल्लभाचार्येत्यादि।। आचार्यवान् पुरूषो वेदेति श्रुतेः। कृष्णाऽमृताऽधरास्वादसिद्धिरत्र न संशय, इति वाक्यात्। सान्निध्यमात्रदत्त श्रीकृष्णप्रेमा विमुक्तिदः • रासलीलैकतात्पर्य कृपयैतत्कथाप्रद इति वाक्याच्च।। ब्रह्मादीनां सुदुर्लभमिति।।

न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयाः किल।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित्।।
षष्टिवर्ष सहस्त्राणि मया तप्तं तपः पुरा।

तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणव इति बृहद्वामनपुराणवाक्याल्लीलाप्रधानभक्तचरणरेणु– रपिदुर्लभस्तदा श्रीकृष्णाऽधरामृतास्वादनाद्यतिदुर्लभतरमिति भावः।।६२।।

व्याख्यार्थ– श्रुति में कहा है कि 'आचार्यवान् पुरूषो वेद' श्रीविट्ठलनाथजी ने अपने सर्वोत्तमस्तोत्र में 'कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिरत्र न संशयः' 'सान्निध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा विमुक्तिदः' रासलीलैक तात्पर्यः कृपयैतत्कथा प्रदः' इत्यादि वाक्य आचार्य चरणों के लिये कहें है। लीलास्वाद ब्रह्मा आदि के लिये भी दुर्लभ कैसे हैंइस में बृहद् वामन पुराण का वचन उद्धृत किया है उसका अर्थ 'ब्रह्माजी भृगुजी से कहते है कि हे पुत्र ये व्रजसुन्दरियां स्त्रियां नहीं है ये तो श्रुतियां है मैं (ब्रह्म) शिव, शेष, लक्ष्मी भी कभी उन व्रजसुन्दरियों के समान नहीं हो सकते। मैंने पहले साठ हजार वर्ष तक तप किया था तब भी मैंने उन के चरणों

की रज (धूलि) प्राप्त नहीं की। इस कथा का सार यह है जब भगवद्भक्तों की चरण रज ब्रह्म के लिये भी दुर्लभ है तो श्रीकृष्ण के अधरामृत का आस्वादन तो अति दुर्लभ तर ही।।६२।।

ज्ञानिनां मुक्तिमाहुः–
आभासार्थ–ज्ञानियों की मुक्ति कहते हैं–
ये तु ज्ञानैकसन्निष्ठास्तेषां च लय एव हि।।
भक्तानामेव भवति लीलास्वादोऽतिदुर्लभः।।६३।।

श्लोकार्थ– जिन की ज्ञान में ही केवल एक निष्ठा है उनका तो लय ही होता है अतिदुर्लभ लीलास्वाद तो भक्तों को ही होता हैं।।६३।।

ये त्विति।। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ज्ञानादेव च कैवल्यमिति। लय एव हीति।। न स पुनरावर्तत इति श्रुतेः। ननु सिद्धान्तेऽक्षरब्रह्मणा सहैक्ये भगवतोद्धारः क्रियत इति न स इति श्रुतिविरोध इति चैन्न। अनया संसारावर्त्तनं निषिद्धते, न तु ब्रह्मातीतपुरूषोत्तमप्राप्तिः।।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते, इति भगद्वाक्यात्। विशेषतो निरूपणं तु भाष्यविद्वन्मण्डनादौ। यत्राक्षरप्राप्तावपि न पुनरावर्तते, तत्र तदतीतप्राप्तौ तत्सम्भावनापि नेति।। भक्तानामेवेति।।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोष्टिष्वपि महामुने, इति भागवतवाक्यान्नारायणभक्तस्यातिदौर्लभ्यम्।।

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यास्माभिरच्युत।
सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः।।
ब्रह्मेति पठ्यते स्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम्।।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तदित्याद्युक्त्वा।।
आनन्दमात्रमिति यद वदन्तीह पुराविदः।

तद्रूपं दर्शयाः स्माकं यदि देयो वरो हि नः, इत्यादिबृहदवामनपुराणे श्रुतिप्रार्थनावाक्यत्तत्परस्य पुरूषोत्तमस्य भक्तानां श्रेष्ठये किमु वाच्यम्। तत्र ताभिः स्तुतो भगवान् अक्षरब्रह्मस्थ श्रीवृन्दावन श्रीयमुना श्रीगिरिगोवर्द्धनादिलोकं तत्र स्थितश्रीगोपिकाकदम्ब वस्थितस्वस्वरूपं दर्शयित्वा भगवानाहु, ब्रूत किं करवाणि व इति। ततः श्रुतयो नित्यसिद्धगोपिकावन्मनोरथं याचितवत्यः। ततः।

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः।

मयाऽनुमोदित सम्यक् सत्यो भवितुर्महतीत्याहेति लीलास्वादोऽनुग्रहैकलभ्योऽतिदुर्लभो लीलास्वादो भक्तानामेव भवतीत्यर्थः। तत्रैव पुराणे,

स्त्रियो वा पुरूषा वाऽपि भक्तिभावेन केशवम्।

हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नाऽत्र संशयः, इतिवाक्यात्। एतत्पुराणवाक्यानि विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैर्निरूपितानि।।६३।।

व्याख्यार्थ– 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' ज्ञानादेव च कैवल्यम्' इत्यादि प्रमाणों से ज्ञानियों का तो लय ही होता है। क्योंकि श्रुति यह स्पष्ट बताती हैं कि 'न स पुनरावर्त्तते' ज्ञानी का ब्रह्म लय हो

जाता है अतः उसका पुनरावर्तन नहीं होता। शंका होती है कि सिद्धान्त में तो जीव की पहले अक्षर ब्रह्म के साथ एकता होती हैं उसके अनन्तर भगवान् उद्धार करते हैं तो 'न स पुनरावर्त्तते' इस श्रुति का विरोध होगा। इसका उत्तर देते हैं कि यहां पुनरावृति का निषेध ब्रह्मातीत पुरूषोत्तम प्राप्ति का नहीं है किन्तु संसार में वह मुक्त पीछा नहीं लौटता इस तात्पर्य से है। जैसा कि गीता में भगवान् का वाक्य है– हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक जाने वाले जीव भी संसार में पुनः लौट आते है। किन्तु हे कौन्तय! जो मुझे प्राप्त हो जाता उसका पुनर्जन्म नहीं होता। इसका विशेष निरूपण भाष्य विद्वन्मण्डन आदि में हैं। जहां अक्षर ब्रह्म को प्राप्त जीव भी संसार में नहीं लौटता तो अक्षरब्रह्म से अतीत पुरूषोत्तम में प्राप्त होने वाला पुनः संसार में लौटेगा ऐसी तो संभावना ही नहीं हो सकती। अतिदुर्लभ लीलास्वाद भक्तों को ही होता हैं ऐसा कहा हैं उसमें भागवत् को प्रमाण रूप में उद्धृत किया 'हे महामुने मुक्त सिद्धों में भी नारायण में ही जिसकी एक निष्ठा है ऐसा (भक्त) प्रशान्तात्मा करोड़ों में भी दुर्लभ है।' इसमें भगवद्भक्त की दुर्लभता बताईगई हैं। बृहद्वामन पुराण में भी श्रुतियों ने प्रार्थना की है 'हे अच्युत! हमने आपके नारायण आदि रूप तो जाने है। यह सारा सगुण ब्रह्म है इनमें हमारी वस्तु बुद्धि नहीं है हम इसे ब्रह्म कहती हैं वह जो आपका निर्गुण, पर वाणी और मन के अगोचर जो हमारे ज्ञान से परे है' उसे ऐसा कह कर आगे फिर कहती हैं कि 'जिस आपके रूप को प्राचीन ऋषी आनन्दमात्र ऐसा कहते है उस रूप के दर्शन हमें कराइये। यदि आप हमें वर देना चाहते है तो' इस प्रकार श्रुतियों के प्रार्थना वाक्यों से अक्षर ब्रह्म से पर पुरूषोत्तम के

भक्तों को श्रेष्ठता के विषय में क्या कहना। वहां जब श्रुतियों ने भगवान् की प्रार्थना की तब भगवान् ने अक्षर–ब्रह्म में स्थित श्रीवृन्दावन, श्रीयमुना, श्रीगिरिगोवर्द्धन आदि लोकों को एवं वहां स्थित श्रीगोपिका के समूह में अपने स्वरूप के दर्शन करा कर भगवान् ने कहा कि बताओं तुम्हारे लिये मैं क्या करूं? तब श्रुतियों ने नित्यसिद्ध गोपियों की तरह अपना मनोरथ मांगा तब भगवान् ने कहा 'तुम्हारा मनोरथ बहुत दुर्लभ है और दुर्घट भी है। परन्तु मेरे अनुमोदन से होने योग्य है' इससे सिद्ध होता हैं कि लीला स्वाद भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। अतः दुर्लभ है और दूसरी बात यह है कि लीला स्वाद भक्तों को ही होता है। 'उसी पुराण में 'स्त्री हो या भक्तिभाव से केशव को हृदय में करके श्रुतियों की गति प्राप्त करते है इसमें कोई संदेह नहीं, ऐसा वाक्य है। इन बृहद् वामन पुराण के वाक्यों का निरूपण प्रभुचरणों ने विद्वन्मण्डन में किया है।।६३।।

एवं निरूप्य समाप्तिं प्रतिजानते–

आभासार्थ – ऐसा निरूपण कर अब समाप्ति की प्रतिज्ञा करते हैं–

इति श्रीश्रीमदाचार्यचरणाब्जप्रसादतः।।
प्रोक्तं गिरिधरेणेदं पश्यन्तु हरिभावुकाः।।६४।।

श्लोकार्थ – इस प्रकार श्री श्री मदाचार्यचरणकमल की कृपा से गिरिधर ने यह कहा है इसे भगवद्भक्त देखें।।६४।।

इति श्री श्री मदाचार्येत्यादि। अत्र

श्रीद्वयोपादानमुभयभागस्थितस्वामिनीवाचकम्। तेन लीलास्थपुरूषोत्तमत्वमत एषां चरणाब्जप्रसादेऽयं रसः सदास्वाद्यो भवतीति बोद्ध्यते।।६४।।

व्याख्यार्थ– यहां 'श्रीमदाचार्य, में जो दो श्री रक्खी गई है वह उभयभागस्थित स्वामिनी का वाचक है इसलिये आचार्यचरणों में लीलास्थ पुरूषोत्तमत्व है। अतः इसके चरणकमलों की कृपा में यह रस आस्वाद्य (चखने योग्य) होता हैं यह इससे बोधित होता है।।६४।।

एतद्ग्रन्थावलोकनकर्तृणां फलमाहुः–

आभासार्थ– इस ग्रन्थ का अवलोकन करने वालों के लिये फल कहते हैं।

सूर्योदये शीतमपैति सर्वं
मार्गावलोको जलजप्रकाशः।।
तमोनिवृत्तिर्द्विजकर्मवृत्ति–
स्तथैव मार्तण्डनिबन्धबोधे।।६५।।

श्लोकार्थ– जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर सम्पूर्ण शीत दूर होता है, मार्ग दीखने लगता है कमल विकसित हो जाता हैं अन्धकार निवृत हो जाता हैं ब्राह्मण कर्म चलने लगता हैं उसी तरह इस (शुद्धाद्वैत) मार्तण्ड= सूर्य के उदय से जडता रूप शीत, शुद्धाद्वैत मार्ग का दर्शन, भक्तों के हृदय रूपी कमल का विकास, अज्ञान की निवृत्ति होती हैं और ब्राह्मण कर्म की प्रवृत्ति होती है।।६५।।

इतिः श्रीमन्मुकुन्दरायसहजमाधुरीपरमानिर्वचनीय सरसवदनतामरससुधाहृदावगाहि श्रीमद्वाचार्यकृपापारसार श्रीमत्प्रभुचरणऽऽत्मजमहाराज श्रीयदुनाथकुलोद्भवगोस्वामि श्रीगोपालजनुषा श्रीगिरिधरेण विरचितः शुद्धाद्वैतमार्तण्डः समाप्तिमफाणीत्।।

सूर्योदय इत्यादि।। तथैवेति।। शीतस्य जाड्यरूपत्वेन जाड्यं गच्छति। निजाचार्यप्रगटितमार्गज्ञानम्। भक्तहृदयाब्जप्रकाशः। तमोऽज्ञानं तस्य निवृत्तिः। द्विजस्य ब्रह्मणादेः सूर्योदये सन्ध्यावन्दनादिकर्मसु यथा वृत्तिः प्रवृत्तिः, स्तथा ब्रह्मसम्बन्धिनः, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवेति वचनाद् भगवत्सेवारूपकर्मणि प्रवृत्तिः। आत्मनिवेदिनामेव भगवत्सेवायामधिकारः। आत्मनिवेदिनो हि भगवत्सेवाऽर्हाः, नेतरे। गायत्र्युपदेशजसंस्कारवदिति श्रीप्रभुचरणाः। तथा व गायत्र्युपदेशेन द्विजत्वमेवमात्मनिवेदनेनात्र भगवत्सेवाधिकारत्वसम्पादकाद्विजत्वम्। यथा जन्म ब्राह्मणकुले, तदनुगायत्र्युपदेशे कर्माधिकार एवं शरणमन्त्रोपदेशे वैष्णवत्वं, तदन्वात्मनिवदने सेवाऽधिकारइति भावः।। निबन्धो ग्रन्थः।।६५।।

इति श्रीयदुनाथानां कुलचूडामणेर्गुरोः।।
श्रीमद्गिरिधरस्याङ्घ्रिसरोरूहपरागलिट्।।१।।
रामकृष्णः स्वबोधाय व्यरचत् तत्कृपालवात्।।
शुद्धाद्वैताख्यसिद्धान्तमार्तण्डस्य प्रकाशकम्।।२।।
यदिदं सदसद्वापि प्रोक्तं धार्ष्ट्यान्मयात्र हि।।
तत्र श्रीवल्लभाचार्याः कृपयन्तु निजेश्वराः।।३।।

इति श्रीमदखण्डपण्डिताऽऽडम्बरखण्ड

नप्रचण्डवचनमरीचिश्रीमदाचार्याऽऽत्मजश्रीमत्प्रभुचरणात्मज–श्रीमहाराजश्रीयदुनाथकुलकमलप्रकाशकरश्रीमद्गोपालात्मज श्री मद्गिरिधरचरणकमलमकरन्द– मधुपायमाननेतोपनामक रामकृष्णभट्टविरचितः शुद्धाऽद्वैतमार्तण्डप्रकाशः समाप्तिम· मत्।।

व्याख्यार्थ– शीत जाड्य रूप है इसलिये इसके उदय होने पर जडता चली जाती है निजाचार्य प्रकटित मार्ग का ज्ञान होता हैं। भक्तों के हृदयकमल का प्रकाश होता है। तम कहते हैं अज्ञान को उसकी निवृति होती है। द्विज=ब्राह्मण आदि की सूर्योदय होने पर सन्ध्यावंदन आदि कर्म में जैसे प्रवृत्ति होती है उसी तरह ब्रह्म संबंधी कर्म भगवान् कृष्ण की सेवारूपी कर्म में प्रवृत्ति होती है। यह सेवा कर्म ही सबसे मुख्य है। 'कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा' जिन्होने आत्मनिवेदन किया है उन्हीं का भगवत्सेवा में अधिकार है। आत्म निवेदन वाले ही सेवा के योग्य होते है अन्य नहीं। जैसे गायत्री के उपदेश से अन्य संस्कार के द्वारा ही द्विज अधिकारी है ऐसा प्रभुचरणों ने कहा है। जैसे गायत्र्युपदेश से द्विजत्व होता है उसी तरह आत्म निवेदन से भगवत्सेवाधिकारसम्पादकद्विजत्व प्राप्त होता है। जैसे पहले तो ब्राह्मण कुल में जन्म उसके बाद गायत्री का उपदेश होने पर उसका कर्माधिकार होता है।उसी तरह शरण मन्त्र के उपदेश से उस में वैष्णवत्व और उसके अनन्तर आत्मनिवेदन करने पर सेवाधिकार प्राप्त होता है। निबन्ध–ग्रन्थ।।६५।।

इस प्रकार श्रीयदुनाथजी के कुल में चूड़ामणि के सदृश गुरु श्रीगिरिधरजी के चरणकमल की पराग के आराधक रामकृष्ण भट्ट

ने अपने बोध के लिये उन्हीं (गिरिधरजी) की कृपा के बल से शुद्धाद्वैत नामक सिद्धान्त मार्तण्ड का प्रकाश करने वाला यह जो शुद्ध या अशुद्ध मैंने अपनी धृष्टता से इसमें कहा है, उसके लिए हमारे ईश्वर निजेश्वर श्रीवल्लभाचार्य कृपा करें।।१।।२।।३।।

इति श्री मेदपाटान्तर्गत नाथद्वारनिवासिना गुर्जरगौडविप्रान्ववाय लब्धजनुषौर्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्नुवान पञ्चप्रवरान्वितेन वत्सगोत्रायेण सामवेदान्तर्गतकौथुमीशाखाध्यायिना भूरीदेव्या गर्भजेन पीयूषपाणि– श्रीवंशीधरप्रपौत्रेण बलदेवपौत्रेण रामकृष्णात्मजेन नारायणशर्मत्रयीपाठिना विरचितोयंभाषानुवादः समाप्तिमयात्।

श्रीमेदपाटान्तर्गत (मेवाड़) नाथद्वारा निवासी गुर्जर गौड़ ब्राह्मण पञ्चप्रवर (और्व, च्यवन, भार्गव, जामदग्न्य, आप्नुवान) वत्स गोत्रीय सामवेदान्तर्गत कौथुमी शाखाध्यायी माता भूरीदेवी के गर्भ से संभूत पीयूषपाणि श्रीवंशीधर के प्रपौत्र श्री बलदेव के पौत्र श्री रामकृष्णात्मज त्रिपाठी नारायण शर्मा द्वारा विरचित यह भाषानुवाद समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

शुद्धाद्वैत मताधिकारी।

इस मत के अधिकारी तीन प्रकार के है। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ इनका वर्णन श्री महाप्रभुने प्रथमस्कन्ध श्रीसुबोधिनीजी में–

"इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो"

इस श्लोक में अच्छी तरह से किया है। यहां समग्र जगत को ब्रह्मरूप माननेवाला उत्तमाधिकारी है।

जिस प्रकार भगवान् सच्चिदानन्द है उसी प्रकार जगत् भी, ऐसा मानने वाला मध्यमाधिकारी है।

यह सब जगत् ब्रह्म है कारण रूप भगवान् इससे अलग है। ऐसा मानने वाला हीनाधिकारी है।

उत्तम पक्ष में सब ब्रह्म ही है यह अभिन्न सम्बन्ध माना जाता है, मध्यम पक्ष में भगवान् के समान विश्व भी भगवदिच्छा से ब्रह्म का ही कार्य रूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो भेद हैं वह कार्य रूप से हैं कारण रूप से नहीं यह भेदब्रह्म अभेद ही है। एक प्रकार से तादात्म्य ही है।

तीसरे कनिष्ठ पक्ष में भगवान् जगत् के कर्ता होने से जगत् से भिन्न हैं, ऐसा विचार करने पर द्वैत प्रतीति होती है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में बाधा उत्पन्न होती है। अतः यह हमारे मत में ग्राह्य नहीं है।

शुद्ध अद्वैत जानने वालों के ज्ञानको उत्तम माना जाता है

और वे उत्तमाधिकारी हैं । भेद अभेद ज्ञानको मध्यम कहते हैं और वे मध्यमाधिकारी है।

इस द्वितीय मत में कार्य कारण से भेद होने पर भी शुद्धाद्वैत मत में कोई दोष नहीं आता इसीलिये गोस्वामि श्री पुरूषोत्तमजी ने अपने ग्रन्थों में मध्यम पक्ष दिखाया है श्रीमदाचार्य चरणों ने भी कहीं कहीं इस सिद्धान्त को प्रकट किया है।

-: पञ्चपद्यानि :-

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः

अनिर्वृतालोकवेदे ते मुख्या, श्रवणोत्सुकाः।।१।।

अन्वयः श्री कृष्णरसविक्षिप्तमानसाः (अन्यत्र) रतिवर्जिताः लोकेवेदे अनिर्वृताः श्रवणोत्सुकाः ते मुख्याः।।१।।

अर्थ :– जो श्रीकृष्ण के भजन मे विक्षिप्तमन (तन्मय) होते है जिनका अन्य किसी में अनुराग नहीं होता है और जिनको लोक में तथा वेद में संतोष का अनुभव नहीं होता हो और जिनकी भगवद्गुणों के सुनने में उत्कण्ठा हो वे मुख्य अधिकारी है।।१।।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगदत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः।।२।।

अन्वयः– ये तु विक्लिन्नमनसः भगवत्स्मृतिविह्वलाः श्रवणोत्सुकाः अर्थैकनिष्ठाः अपि ते मध्यमाः।

अर्थ :– और जो गद्गदहृदय वाले हैं तथा जो भगवान् की याद आते ही विह्वल हो जाते है। ऐसे हरिगुण के श्रवण में उत्सुक मोक्ष में जिनकी अधिक निष्ठा होती है वे मध्यमाधिकारी कहे गये है।।२।।

निःसंदिग्धं कृष्णतत्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
तत्त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा।।३।।
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्त्तिताः।।४।।

अन्वयः— ये कृष्णतत्वं निःसंदिग्धं सर्वभावेन विदुः तु आवेशात् वा निरोधात् विकलाः च अन्यथा न तु ये केचित् कदाचित् पूर्णभावेन पूर्णार्थाः सर्वदा न अन्यासक्तः ते अधमाः परिकीर्त्तिताः।

अर्थ :— जो अधिकारी कृष्ण के तत्व को निःसन्दिग्ध रूप से सर्वभाव से जानते हैं और जो भगवान् के आवेश से अथवा निरोध (प्रपंच विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति) होने से विह्वल हो जाते हैं। और किसी कारण से जो विह्वल नहीं होते । ऐसे जो कोई हैं कदाचित् पूर्णभाव से अपने को कृतार्थ मानते हैं सर्वदा उनमें पूर्णभाव नहीं रहता और जो अन्य से आसक्त होते हैं वे अधम अधिकारी कहे जाते हैं।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्म प्रकारतः ।
इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ।

अन्वय :— देशकालद्रव्यमन्त्रकर्मप्रकारतः श्रवणादिषु अनन्यमनसः ते मर्त्याः उत्तमाः ।

अर्थ :— देश, काल, द्रव्य, मन्त्र और कर्म के प्रकार से श्रवण आदि मे किसी प्रकार से मनवाले नहीं होते हैं वे मनुष्य उत्तम अधिकारी कहे जाते हैं ।।५।।

गो.चि. श्री 105 श्री भूपेशकुमारजी (विशाल बाबा)

नाथद्वारा

जन्म दिनांक
५ जनवरी सन् १९८१

जन्म तिथि : पौष कृष्ण ३०
विक्रम संवत् २०३७

ब्रह्मवाद के सूत्र

(१) "ब्रह्म सर्वज्ञ है"

(२) "जीव अल्पज्ञ, अणु और ईश्वर का ही अंश है"

(३) "ब्रह्म अपरिमेय और अज्ञेय है, दुर्गम्य भी है किन्तु अनुग्रहैक गम्य भी वही है"

(४) "ब्रह्म सर्व धर्मों का केन्द्र है"

(५) "ब्रह्म सर्व सामर्थ्य सम्पन्न ईश्वर है और वही परमतत्व भगवान् श्री कृष्ण ही है"

(६) "ब्रह्म सर्व विरूद्ध धर्मों का आश्रय है"

(७) "ब्रह्म निर्दुष्ट है"

(८) "ब्रह्म सर्व सद्‌गुण संयुक्त है"

"कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोष वर्जितम्"

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य

चौधरी ऑफसेट प्रा. लि. - 0294-2584071, 2485784 / 2670